# सन्त-वाणी

## भाग २

मानव सेवा संघ प्रकाशन

वृन्दावन

# सन्त वाणी

भाग-२

मानव सेवा संघ, प्रकाशन

वृन्दावन

प्रकाशक :
मानव सेवा संघ,
वृन्दावन-२८११२१
( मथुरा )



प्रथम बार—६०००
द्वितीय बार—४०००

मूल्य रु० ७.०० (सात रुपये)

मुद्रक :
इलाइट प्रिंटर्स,
६४२, वाल्दा रोड, निशातगंज,
लखनऊ।
फोन : ७१६६६

# सन्त वाणी

## भाग–२

# निवेदन

१. संत अमर हैं। उनकी वाणी अमर है।

२. इस वाणी के आदर में सत्य का आदर है।

३. इस वाणी के आदर में जीवन का आदर है।

४. इस वाणी के आदर में संत का आदर है।

५. इस वाणी के आदर में संघ का आदर है।

—मानव सेवा संघ

—:—o—:—

# अनुक्रमणिका

★-✻-★

॥ ॐ ॥

# प्रार्थना

[ प्रार्थना आस्तिक प्राणी का जीवन है ]

मेरे नाथ,
आप अपनी
सुधामयी,
सर्वसमर्थ,
पतितपावनी,
अहैतुकी कृपा से,
दुःखी प्राणियों के हृदय में
त्याग का बल,
एवम्
सुखी प्राणियों के हृदय में
सेवा का बल
प्रदान करें,
जिससे वे
सुख-दुःख के
बन्धन से
मुक्त हो,
आपके
पवित्र प्रेम का
आस्वादन कर,
कृतकृत्य हो जायं

ॐ आनन्द ! ॐ आनन्द !! ॐ आनन्द !!!

# भूमिका

श्री महाराज जी के द्वारा अमूर्त सत्य को मूर्त शब्दों में प्रकाशित करने की लीला का सवंरण हो चुकने के बाद, संत-प्रेमी, संघप्रेमी, और सत्संग प्रेमी भाई-बहनों में यह संकल्प जोर पकड़ने लगा कि संतवाणी को सुरक्षित एवं सुलभ बानये रखने का प्रयास होना चाहिए। श्री स्वामीजी महाराज जब तक सशरीर विद्यामान थे, कुछ प्रेमी जनों ने उनकी विशेष स्वीकृति लेकर उनके कुछ प्रवचनों को टेप में रिकार्ड कर लिया था। विशेष स्वीकृति लेने का अर्थ यह है कि सामान्यतः प्रवचनों को टेप रिकार्डिग करके रखना श्री महाराज जी ने साधकों के लिए विशेष हितकर नहीं माना था। प्रेमीजनों के विशेष आग्रह पर कभी-कभी स्वीकृति दे देते थे। ऐसी दशा में उनके प्रवचनों की Arranged Recording कभी नहीं हो सकी। जब जैसा बन पड़ा Record कर लिया गया। उनके ब्रह्मलीन हो जाने के बाद उनके ही स्वर में जीवनोपयोगी अनमोल बचनों को सुनकर जीवनदायी प्रेरणा लेने के लिए उनके चुने हुए टेप रिकार्डेड प्रवचनों के Cassettes तैयार कराये गये। बारह कैसेट्स का एक सेट तैयार हुआ। श्री महाराज जी की अमृत-वाणी का यह सेट सत्संग प्रेमियों के द्वारा बहुत पसन्द किया गया। साधकों के साधनयुक्त जीवन के निर्माण का यह एक आधार बन गया। संघ की शाखाओं द्वारा संचालित सत्संग की बैठकों में श्री महाराज जी के वचनों से सजीवता आ गयी। मानव-जीवन पर प्रयुक्त गूढ़ दार्शनिक तथ्यों की सरल अभि-

व्यक्ति श्रीं महाराज जी की ही प्रेम-पूर्ण सशक्त ध्वनि में सुनकर प्रेमीजनों के हृद्तंत्री के तार स्पन्दित हो उठते हैं। यह तथ्य आज श्री महाराज जी के साकार विग्रह के लुप्त हो जाने की स्थिति में अत्यधिक अलभ्य उपलब्धि मालूम हो रही है।

जिस समय रिकार्डेड प्रवचनों के कैसेट्स बनाये जा रहे थे उस समय यह विचार भी आया कि कैसेट्स में जो वचन हैं वे इतने गूढ़ हैं कि उनके अध्ययन, मनन, पठन, पाठन बारम्बार करते रहने पर ही उनको हृदयंगम किया जा सकता है। इसके अतिरिक्त जो सत्संग-प्रेमी टेप रिकार्डिंग मशीन तथा कैसेट्स अपने पास नहीं रख पायेंगे उनके लिए भी ये अनमोल प्रवचन सुलभ होने चाहिए। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिये पूरे सेट के प्रवचनों को पुस्तकाकार प्रकाशित किया जा रहा है। सन्तवाणी माला का यह दूसरा पुष्प आपकी सेवा में प्रस्तुत है। इस संग्रह में प्रत्येक प्रवचन बिल्कुल कैसेट में भरे हुए प्रवचन के अनुरूप है। कैसेट्स सुनते समय भी जिन-जिन वाक्यों पर आप विशेष रूप से विचार करना, अध्ययन तथा मनन करना चाहें उन वाक्यों को इस संग्रह में रेखांकित करके सरलता से कर सकते हैं। सत्संग प्रेमी भाई-बहनों की सेवा में सप्रेम समर्पित संतवाणी माला का दूसरा पुष्प सब प्रकार से आपके लिए हितकारी हो, इसी सद्भावना के साथ–

विनीता :
**देवकी**

वृन्दावन
६-८-८२

---o---

# १
# (अ)

जिन महापुरुषों ने कठिन साधना के द्वारा सत्य को पाकर अपना कल्याण कर लिया, उनमें एक बड़ी गहरी वेदना जग जाती है इस बात के लिए कि कितना अच्छा होता कि अपनी भूल से अज्ञान के अंधकार में पड़े हुए एवम् दुःखों के भार से दबे हुए मनुष्यों को शान्ति मिल जाती, जीवन का आनन्द मिल जाता और सारे विश्व के सब प्रकार के संघर्षो का अंत हो जाता। ऐसे महापुरुषों का आविर्भाव देश-देश में, युगो-युगो में होता रहता है। ऐसे ही महान संतों की परम्परा में मानव सेवा संघ के प्रवर्तक ब्रह्मलीन पूज्यपाद स्वामी शरणानन्दजी महाराज हुए, जिन्होंने मानव-सेवा-संघ को प्रतीक बना कर उसके माध्यम से मानव जीवन की वैज्ञानिकता एवम् आस्तिकता के सत्य को प्रकाशित किया।

—o—

## परिचय :

आज जिसकी अमृत वाणी आप पढ़ने जा रहे हैं, वे ब्रह्मलीन स्वामी शरणानन्दजी महाराज एक महान क्रान्तदर्शी, तत्ववेत्ता, भगवद्भक्त एवं मानवता के संरक्षक सन्त थे। उनका प्रादुर्भाव उत्तर भारतवर्ष में २०वीं सदी के प्रारंभ में हुआ। उनके जीवन के उन्मेष के सम्बन्ध में समय-समय पर प्रसंगवश उन्हीं के श्रीमुख से जो कुछ सुना गया, उससे हम लोगों ने जाना कि बचपन में ही, लगभग १० वर्ष की उम्र में, उनकी आँखें चली गयीं। इनके अन्धेपन के दुःख से सारा परिवार अथाह दुःख में डूब गया। परन्तु उस दुःख के प्रभाव से इनमें एक प्रश्न पैदा हो गया–"क्या ऐसा भी कोई सुख होता है, जिसमें दुःख शामिल न हो?" उत्तर मिला कि ऐसा सुख साधु-सन्त को होता है, जिसमें दुःख नहीं रहता। इस उत्तर से इन्हें जीवन की राह मिल गयी। इन्होंने निश्चय कर लिया कि मैं साधु हो जाऊँगा। इनके मन में यह चिन्तन चलने लगा कि साधु कैसे बनूँ। सद्गुरु–रूप सन्त मिले। बातचीत हुई। सन्त ने परामर्श दिया कि ईश्वर के शरणागत हो जाओ। इनके बाल्यकाल के कोमल हृदय पर सन्त की वाणी का बड़ा गहरा प्रभाव हुआ। ईश्वर की शरणागति स्वीकार करते ही इनके मन में ईश्वर से मिलने की तीव्र उत्कण्ठा जागृत हो गयी। उस उत्कण्ठा ने शरीर और संसार के सब बन्धनों को ढीला कर दिया। १६ वर्ष की उम्र में इन्होंने विधिवत् सन्यास ले लिया। इनका नया नाम-करण हुआ–"स्वामी शरणानन्द जी"। उसी समय से सब

सामान एवं साथियों का सहारा छोड़कर ये सन्यास धर्म के कठिन व्रतों का बड़ी दृढ़ता से पालन करते हुए भगवान के सहारे रहने लगे।

श्री महाराजजी के साधन-काल की घटनाओं से स्पष्ट विदित होता है कि भगवान् के शरणागत होने का भाव इनमें इतना सजीव था कि–**"सर्व समर्थ प्रभु सदैव अपने साथ हैं"** इस सत्य के अभिव्यक्त होने में देर नहीं लगी। एक बार मथुरा से आगरा जाते समय ये अकेले ही पैदल यमुना के किनारे-किनारे जा रहे थे। एक स्थान पर ढाह गिरी। ये पानी में जा पड़े। नदी चढ़ी हुई थी। हाथ की लाठी छूट गयी। तैरना कुछ आता था, पर बिना देखे पता नहीं चला कि किधर की ओर तैरें। शरण्य की याद आयी और उनके भरोसे इन्होंने जल में डूबते हुए शरीर को ढीला छोड़ दिया। तत्काल ऐसा महसूस हुआ जैसे किसी ने इनको जल में से निकाल कर खुश्की पर डाल दिया। उठने के लिए जब इन्होंने धरती पर हाथ टेका तो एक नई लाठी हाथ में आ गयी। प्रभु की शरणागत-वत्सलता को पाकर इनका हृदय भर आया। उनकी महिमा से अभिभूत, उनके प्यार में मस्त होकर ये उठे, और चल दिये।

इनके जीवन की ऐसी अनेक घटनाएँ हैं जिनसे ईश्वर के प्रति अविचल आस्था एवं अनन्य शरणागति का परिचय मिलता है। जब कभी ये वृन्दावन में होते तो प्रतिदिन श्री बाँके बिहारीजी के दर्शन करने जाते थे। एक दिन एक मित्र ने पूछ दिया कि, "महाराजी–आपको दिखायी तो देता नहीं है–दर्शन कर नहीं सकते, फिर आप मन्दिर में क्यों जाते हैं? श्री महाराजजी ने उत्तर दिया–" भले आदमी! सोचो तो सही–मेरी आँखें

नहीं हैं, तो क्या ठाकुरजी की भी आँखें नहीं हैं ? मै नहीं देख सकता, परन्तु वे तो देखते हैं। मुझे देखकर उन्हें प्रसन्नता होती है, इसलिए मैं मन्दिर में जाता हूँ।" कितना सजीव ईश्वर विश्वास है !

श्री स्वामीजी महाराज एक बार ट्रेन में बैठे थे। ईसाई मत के एक पादरी साहब भी वहाँ आकर बैठ गये। थोड़ी देर बाद उन्होंने श्री महाराजजी से पूछा कि आप मसीहा को जानते हैं ? इन्होंने सहज भाव से उत्तर दिया कि "जी हाँ, जानता हूँ"। पादरी साहब ने फिर प्रश्न किया कि मसीहा के सम्बन्ध में आप क्या जानते हैं ? इस प्रश्न को सुनकर बड़ी प्रसन्नता एवं कॉनफिडैन्स के साथ श्री महाराजी ने कहा कि भाई, "मसीहा खुदा के पुत्र हैं मैं खुदा का दोस्त हूँ, मसीहा मेरा सगा भतीजा है मैं उसको अच्छी तरह जनता हूँ। मसीहा मुझे बहुत प्यारा लगता है।" एक गेरू वस्त्रधारी हिन्दू सन्यासी मसीहा को अपना सगा सम्बन्धी मानता है और आत्मीयता के नाते प्यार करता है–ऐसे सम्बन्ध की कल्पना भी पादरी साहब नहीं कर सकते होंगे। श्री महाराजजी का उत्तर सुनकर स्तम्भित रह गये। उन्होंने हिन्दू मत के इस व्यापक ईश्वरीय सम्बन्ध की बात, जिसमें सभी मजहब के ईश्वर–विश्वासी समा जाँय, कभी सुनी नहीं होगी। किन्तु आप सोचिए कि श्री महराजजी की बात कितनी सत्यतापूर्ण है। वस्तुतः ईश्वरवाद में मजहब-भेद हो ही नहीं सकता। ईश्वरवाद तो मानव जीवन का एक ऐसा व्यापक सत्य है कि मन्दिर, मस्जिद और चर्च के भेद इसे विभाजित नहीं कर सकते। ईश्वरवादी होकर मजहबी संघर्ष करने वाला घोर अनीश्वरवादी है। क्योंकि सही ईश्वरवाद का

अर्थ है–प्रभु से आत्मीय सम्बन्ध स्वीकार करना। वैष्णव मत के अनुसार यही उपासना है। इसी आधार पर श्री महाराजजी ने भक्तिमती मीराजी, महात्मा ईसा मसीह और पैगम्बर मुहम्मद को 'परम वैष्णव' कहकर स्वीकार किया है। क्योंकि, मीराजी ने ईश्वर को अपना पति माना, महात्मा ईसा ने ईश्वर को अपना पिता माना और पैगम्बर मुहम्मद ने ईश्वर को अपना दोस्त माना; और तीनों ही प्रभु के परम-भक्त हुए। प्रभु-भक्ति के लिए ईश्वर को अपना मानना और उनको रस देने के लिए उनके प्रेमी होना अनिवार्य है। कोई मन्दिर में जाकर पूजा करेगा कि मस्जिद में जाकर नमाज पढ़ेगा कि चर्च में जाकर प्रार्थना करेगा–यह प्रश्न ही नहीं उठता। यदि कोई प्रभु को अपना मानकर उनके प्रति प्रेमभाव रखेगा और उन्हीं के नाते प्राणिमात्र के प्रति सद्भाव रखेगा तो उसे सब जगह परमात्मा मिलेगा, अन्यथा, कहीं नहीं मिलेगा। यह ध्रुव सत्य है। श्री स्वामीजी महाराज ने इस सत्य को स्वीकार करने का परामर्श सभी ईश्वरवादी साधकों को दिया है। उनका यह विचार उनके प्रवचनों में व्यक्त है जिसका अनुसरण मजहबी एकता को सुरक्षित रखने में समर्थ है।

श्री स्वामीजी महाराज को सन्यास देने वाले गुरु ने एक बार विदा होते समय कह दिया कि, "बेटा ! जब तुम आजाद हो जाओगे, तो सारी प्रकृति तुम्हारी सेवा के लिये लालायित रहेगी। चराचर जगत तुम्हारी आवश्यकता पूर्ति के लिए तैयार रहेगा। वृक्ष तुम्हें फल-फूल देंगे, और खुंखार शेर तुम्हें गोद में लेकर तुम्हारी रक्षा करेंगे।" इतना कहकर सद्गुरुदेव ने स्वरचित एक दोहा सुना दिया–

**"जीते जी मर जाय, अमर हो जावे।**
**दिल देवे, सो दिलवर को पावे।"**

"जीते जी मर जाय, आर्थात् अकिंचन, अचाह एवं अप्रयत्न हो जाना और "दिल देवे" अर्थात् केवल प्रभु को अपना मानकर उन्हें रस देने के लिये अपने को समर्पित करना।

श्री स्वामीजी महाराज ने गुरुवाणी को सर्वांश में धारण किया और उसे अपने जीवन में शत्-प्रतिशत् फलित होते देखा। अकिंचन, अचाह एवं अप्रयत्न होकर इन्होंने परम स्वाधीन, दिव्य-चिन्मय जीवन पा लिया तथा प्रभु के प्रेमी होकर प्रेम के अनन्त रस से भरपूर हो गये।

घोर पराधीनता की पीड़ा से मुक्त होकर अमरत्व के आनन्द में मस्त हो गये। इस सम्बन्ध में श्री महाराजजी ने अपना एक अनुभव सुनाया था। एक बार उनका शरीर अस्वस्थ हो गया था। उत्तराखण्ड की यात्रा करके वापस आये थे। हिलडायरिया से शरीर बहुत ही दुर्बल हो गया था। साथ-साथ ज्वर भी रहने लगा। बीमारी की दशा में करीब ४० दिन बीत गये थे। चिकित्सकों के मतानुसार नाड़ी की गति शरीर के नाश का संकेत दे रही थी। मित्रों, प्रेमियों एवं चिकित्सकों ने चिंता प्रगट की। श्री स्वामीजी महाराज के शरीर को नियमानुसार कुशा और मृगछाला बिछाकर जमीन पर उतार दिया गया। चारों ओर प्रियजन खड़े थे। प्रेमी डाक्टर ने कहा कि "बाबाजी चले"। इन्होंने सुना और प्रियजनों के उमड़ते हुए हृदय के स्पन्दनों को अनुभव किया। वीतराग सन्त को बड़ा भारी कौतूहल हुआ कि प्रियजन इतने दुःखी क्यों हैं ? उन्होंने सोचा

कि अब मैं देखता हूँ कि मृत्यु कैसी होती है ? जब वे देखने लगे तो उन्हें बड़ा आनन्द आया। शरीर के छूट जाने में इतना हल्कापन और इतना आनन्द था कि जिसकी कोई सीमा ही नहीं थी। इस अनुभव से वे इस निश्चय पर पहुँचे कि मृत्यु में कोई दुःख नहीं है। चूँकि आदमी शरीर को बनाये रखना चाहता है, इस कारण मरने में दुःखी और भयभीत होता है, अन्यथा आनन्द ही आनन्द है। उनका आनन्द मृतकवत् शरीर पर भी फैल गया था। वे उस शरीर को जमीन पर पड़ा हुआ देख रहे थे और सुन रहे थे कि मित्रगण कह रहे हैं कि "देखो, बाबाजी कितने प्रसन्न हैं।" बुद्धि की प्रखरता, हृदय की कोमलता एवं जीवन के प्रति जागरूकता के गुण इनमें जन्म-जात थे। अवसर पाकर इन गुणों का पूर्ण विकास हुआ। एक बार ये अपने गुरु के पास बैठे थे–इनके मन में शास्त्रों एवं उपनिषदों के अध्ययन का सङ्कल्प उठा। आँखें तो थी नहीं, मन ही मन सोचकर रह गये। तत्काल ही इनके गुरुदेव बोल उठे–"अरे भाई! ठहरी हुई बुद्धि में श्रुति का ज्ञान स्वतः अभिव्यक्त होता है। उसकी पाठशाला है–"एकान्त" और पाठ है "मौन"। ज्ञानार्जन का यह रहस्य सुनकर ये बहुत प्रसन्न हो गये। इन्होंने एकान्त में मौन रहकर बुद्धि को सम कर लिया। बुद्धि की समता में वह ज्ञान उदित हो गया जो ग्रन्थों के अध्ययन से–कभी सम्भव ही नहीं है। उस ज्ञान के प्रकाश में इन्हें सृष्टि के आदि-अन्त के सभी रहस्यों का पता चल गया। सृष्टि के विधायक की मङ्गलकारिता एवं मानव-जीवन के मङ्गलमय विधान का अर्थ स्पष्ट हो गया। इन्होंने जानने योग्य सब कुछ ज्ञान लिया, क्योंकि जिस ज्ञान से सब कुछ जाना जाता है, वह ज्ञान इनमें अभिव्यक्त हो गया था।

अन्तर्चक्षु के खुलते ही इनमें इतनी सामर्थ्य आ गयी कि बाह्य जगत को भी देखने में समर्थ हो गये। वे भीतर-बाहर सब कुछ देख सकते थे। बिल्कुल निर्द्वन्द्व एवं निर्भीक होकर रहते थे। बाहरी आँखों के बिगड़जाने का दुःख सदा के लिये मिट गया।

इनका इतना विकास अल्प समय में ही हो गया। जिन मित्रों ने प्रारम्भ से इनको देखा है, वे कहते हैं कि देखते-ही-देखते उनके भीतर सत्य से अभिन्न होने की गहरी व्याकुलता जो थी, वह परम शान्ति में बदल गयी। उनका मुख-मण्डल प्रकाशमान हो गया। वे अपने अविनाशी अस्तित्व में आप स्थित रहने लगे। उनके हृदयमें ईश्वरीय–प्रेम लहराने लगा, जिसके स्पर्श-मात्र से निकटवर्ती मित्रगण पुलकायमान होने लगे। योग के द्वारा सिद्ध होने वाली सब सिद्धियाँ सहज ही उनमें आ गयीं, पर वे उन सब सिद्धियों को गोपनीय रखते थे। उनका जीवन योग, बोध एवं प्रेम का सजीव प्रतीक था। यही कारण है कि इनकी उपस्थिति से वातावरण में प्रेम की लहरियाँ उठती रहती थीं। उनके जीवन से यह सत्य प्रत्यक्ष होता था कि ज्ञान और प्रेम का तत्व जब किसी सन्त में अभिव्यक्त हो जाता है तो वह विभु हो जाता है। श्री महाराजजी के निकट सम्पर्क में आने वाले अनेक साधक भाई-बहन एक अज्ञात मिठास के आभास से आकर्षित होकर चुपचाप मन्त्र-मुग्ध की भाँति उनके पास बैठे रहते थे। प्रेम-पथ की साधना की चर्चा जब होने लगती थी और श्री महाराजजी प्रेमी तथा प्रेमास्पद के अनन्त-विहार की मधुर-वार्ता सुनाने लग जाते थे तो सुनने वाले ईश्वर-विश्वासी साधक अपने आप को भूल जाते थे। अनेक श्रोताओं ने समय-समय पर अपना अनुभव हमें बताया कि श्रीमहाराजजी की वाणी में उनका रसमय

जीवन ही प्रवाहमान होकर श्रोताओं को स्पर्श करता था, जिससे श्रोता अपने आपको प्रेम-भाव में उत्तरोत्तर ऊँचे उठते हुए पाते थे। बड़ा आनन्द आता था।

इनकी प्रश्नोत्तर की शैली बेजोड़ थी। वाक्-पटुता एवं उन्मुक्त हास्य, भ्रम-निवारण के लिए कड़ी-से-कड़ी आलोचना के साथ ही मातृवत्-स्नेह का व्यवहार जिज्ञासु-जनों के विशेष आकर्षण का स्रोत था। अन्तर्बोध से अनुप्राणित, इनकी अकाट्य युक्तियों में बहुत ही स्पष्टता, दृढ़ता एवं निस्सन्देहता थी। इनके प्रवचनों एवं साहित्य में, कहीं भी आपको ग्रन्थों के प्रमाणों का उल्लेख नहीं मिलेगा। वे जानते थे कि स्वतः सिद्ध सत्य को प्रमाण की आवश्यकता नहीं है। वे कभी सोचकर नहीं बोलते थे। कई बार उन्होंने प्रसंगवश ऐसा कहा कि, "भाई! जैसे तुम सुनते हो वैसे मैं भी सुनता हूँ। मैं भी तो श्रोता हूँ!" उनकी अहम्-शून्य वाणी में ज्ञान और प्रेम की अजस्र धारा सहज ही प्रवाहित होती रहती थी, जिसे सुनकर बड़े-बड़े शास्त्रज्ञ कहते थे और आज भी कह रहे हैं कि वर्षों तक ग्रन्थों के अध्ययन से दर्शन के जो गूढ़ रहस्य समझ में नहीं आये थे, वे सब इन बे-पढ़े सन्त की वाणी से स्पष्ट हो गये।

१९२१ में देश की स्वतन्त्रता के लिए असहयोग आन्दोलन आरम्भ हुआ। "शरीर विश्व-रूपी वाटिका की खाद है"–यह सत्य जिनमें उद्भासित हुआ था, वे सेवा-भावी सन्त देश-सेवा के अवसर को कैसे छोड़ते? वे कूद पड़े स्वातन्त्र्य आन्दोलन की लहर में। एक दिन इनके गुरुदेव के एक मित्र-सन्त इनको आन्दोलन में व्यस्त देखकर इनके पास आये और बड़े प्यार से पूछा–"बेटा! क्या तुमने इसी के लिए घर छोड़ा था?"

श्री शरणानन्दजी महाराज ने बड़ी दृढ़ता के साथ स्पष्ट उत्तर दिया–"बिल्कुल नहीं ! देश की सेवा के राग को मैं विचार से नहीं मिटा सका, इसलिए इस कार्य में लगा हूँ।" पुनः यह पूछने पर कि "तुम्हारा क्या हाल है ?" इन्होंने उत्तर दिया कि "मैं सर्वकाल में अपनी अखण्डता में स्थित हूँ। मैं करता-कराता कुछ नहीं हूँ।" सेवा में रत रहते हुए भी उनमें देहातीत आनन्द की अखण्डता अक्षुण्ण रहती थी। ऐसे त्रिगुणातीत पुरुष में ऐसी घोर कर्मठता अन्यत्र देखने में नहीं आती है। ऐसे विलक्षण पुरुष थे श्री स्वामीजी महाराज। उनके प्रवचनों में आप इस सत्य का विस्तृत विवरण पढ़ेंगे।

अमानवता की कालिमा से मानवीय सभ्यता का इतिहास तमाच्छन्न होने लगा। द्वितीय विश्वयुद्ध में भीषण नर-संहार हुआ, आणविक बम-विस्फोट से जापान के नगर हीरोशिमा और नागासाकी के हृदयविदारक दृश्य उपस्थित हुए, भारतवर्ष के विभाजन के समय मजहब के नाम पर बर्बरतापूर्ण कुकृत्यों से पीड़ित असंख्य विवश नर-नारियों के चीत्कारों से धरती-आसमान काँप उठे।..........यह सब सुनकर संत का नवनीत कोमल हृदय द्रवित हो गया।

जाति-भेद, रंग-भेद, मजहब और वर्ग-भेद, वाद और इज्म के भेदों से विविध संकीर्णताओं में विभाजित संसार के विभिन्न देशों को एक दूसरे के नाश में जुटे हुए देखकर पर-पीड़ा से पीड़ित परम-कारुणिक सन्त का हृदय अत्यन्त व्यथित हो उठा। राजनैतिक स्वाधीनता के बाद भारतीय नागरिकों को अधिकार-लोलुपता में फंसा हुआ देखकर इन्होंने कांग्रेस की सक्रिय सेवा छोड़ दी और एकान्तिक चिन्तन द्वारा मानव-मात्र

की विविध समस्याओं के समाधान पर विचार करने लगे। इनके सामने प्रश्न थे कि :–

(१) व्यक्ति का कल्याण एवं सुन्दर समाज निर्माण कैसे हो ?
(२) विश्व-शान्ति सुरक्षित कैसे रहे ?
(३) मजहवी भेद-भाव कैसे मिटे ?
(४) सामाजिक विपमताएँ कैसे दूर हों ?
(५) मानव के भीतर विद्यमान, सोई हुई मानवता कैसे जागृत हो ?
(६) मानव-मात्र का जीवन पूर्ण कैसे हो ? अर्थात् शान्ति मुक्ति और भक्ति की माँग पूरी कैसे हो ? आदि, आदि ।

करुणा से द्रवित, सर्वात्म-भाव से भावित, सन्त हृदय में गहन एकान्तिक-चिन्तन के फलस्वरूप उपर्युक्त प्रश्नों के उत्तर में 'मानवता के मूल सिद्धान्त' प्रकाश में आये। उनको श्री महाराज जी ने मानव-समाज के लिए एक नवीन क्रान्तिकारी विचार-प्रणाली के रूप में संजोया। उसी विचार-प्रणाली का प्रतीक है–"मानव सेवा संघ"। जिसकी स्थापना सन्त शिरोमणी पूज्यपाद स्वामी शरणानन्द जी महाराज ने इस हेतु की कि इसके माध्यम से युगों-युगों तक मानव समाज की विचारात्मक, भावात्मक एवं क्रियात्मक सेवायें होती रहें। १९५२ में इसकी स्थापना हुई थी। १९५३ में इसका रजिस्ट्रेशन हो गया। वृन्दावन में इसका प्रधान कार्यालय है। इस संस्था को स्थापित करने की आवश्यकता इसलिए पड़ गई कि मानव-मात्र के परित्राण के लिए सर्वमान्य विचार-प्रणाली का सृजन

श्री महाराज जी की अन्तंव्यथा से हुआ था–उसको उन्होंने अपने व्यक्तिगत नाम से प्रकाशित करना पसंद नहीं किया। जिन्हें अहम् को अभिमान-शून्य रखना अभीष्ट होता है, वे आत्मख्याति से बचकर रहते हैं।

इसमें दूसरी एक और महत्वपूर्ण बात यह है कि श्री महाराज जी के विचारानुसार देश, काल, मत, मजहब, सम्प्रदाय एवं वर्ग-निरपेक्ष जो जीवन का सत्य है, उसे व्यक्ति के माध्यम से प्रगट करना उसका मूल्य घटाना है और सबसे बड़ी बात यह है कि जिन्होंने परम-प्रेमास्पद की सत्ता से भिन्न अपना अस्तित्व ही नहीं रखा, वे अपने नाम के माध्यम से कोई बात कैसे कह सकते थे ! इन्हीं कतिपय उल्लेखनीय कारणों से "मानव-सेवा-संघ" की स्थापना हुई। तब से अब तक देश के विभिन्न भागों में 'मानव सेवा संघ' के माध्यम से जन-जन के भीतर सोई हुई मानवता को जगाने की सेवा की जा रही है। श्री स्वामी जी महाराज इस बात के लिए बड़े ही आतुर रहते थे कि प्रत्येक भाई-बहन अपने कल्याण में स्वाधीन और समर्थ हो जाय।

इनका प्रादुर्भाव एक विलक्षण विभूति के रूप में हुआ, ऐसा उनके सम-सामयिक सभी महान सन्त एवं महापुरुष मानते हैं। प्रचण्डज्ञान, अकाट्य-युक्ति, सरल विश्वास एवं अनन्य-भक्ति —ये सभी पक्ष उनमें अपनी-अपनी पराकाष्ठा पर थे। ऐसा अद्भुत काँम्बिनेशन कहीं देखने में नहीं आता, जैसा परमपूज्य स्वामीजी महाराज में विद्यमान था। फिर भी उपर्युक्त दिव्यताओं को अपनी विशेषता मानने की भूल उन्होंने कभी नहीं की।

मेरा कुछ नहीं है।
मुझे कुछ नहीं चाहिये।
मैं कुछ नहीं हूँ।
सर्व-समर्थ प्रभु मेरे अपने हैं।—

यह चिरन्तन-सत्य उनका जीवन था और यही उनके कथन का केन्द्र भी है। श्री महाराज जी की बड़ी भारी विशेषता यह रही है कि वे साधकों को किसी बाहरी विधि-विधान एवं अभ्यास-जन्य साधनों पर अटकने नहीं देते थे। विभिन्न दार्शनिक मतभेदों में उलझने नहीं देते थे; किसी दर्शन या साधन-प्रणाली का आग्रह या विरोध नहीं करते। उन्होंने कभी अपना मत दूसरों पर आरोपित नहीं किया। स्वयं कट्टर ईश्वरवादी होते हुए भी-कभी ईश्वरवाद का प्रचार नहीं किया। वे एक तत्व-दर्शी सन्त थे। इसी कारण उन्होंने भक्तिपथ, ज्ञान-पथ या योगपथ में किसी को सबसे अच्छा या किसी को उससे कम अच्छा नहीं बताया। किसी को सहज या किसी को अपेक्षाकृत कठिन नहीं बताया। उन्होंने इस बात को घोषित किया है कि "दर्शन अनेक और जीवन एक है"। उन्होंने साधकमात्र को यह अभय-वचन दिया है कि तुम आरम्भ में अपनी रुचि, योग्यता, सामर्थ्य, विश्वास और विचार के अनुसार किसी एक साधन-पथ को पसन्द करलो, पूर्णता में तुम्हें पूर्ण जीवन मिलेगा। कर्त्तव्यनिष्ठ को भी, योगी को भी, विचारक को भी एवं प्रभु विश्वासी को दिव्य-चिन्मय, रस-रूप जीवन मिलता है, यह निर्विवाद सत्य है। जीवन की पूर्णता में योग, बोध और प्रेम से अभिन्नता सभी साधकों की हो जाती है। यह एक बड़ा ही क्रान्तिकारी विचार है, जिससे अनेकों उलझनों से मुक्ति मिल

जाती है। श्री महाराज जी का यह क्रान्तिकारी विचार उनके प्रवचनों में स्पष्टतः व्यक्त हुआ है।

जब तक पूज्यपाद श्री स्वामीजी महाराज सशरीर इस संसार में विराजमान थे, तब तक उन्होंने अपना जीवनदायी सन्देश, ग्राम-ग्राम, प्रान्त-प्रान्त अविराम भ्रमण करते हुए, साधु-सन्त, साधक, समाजसेवी, साहित्यकार आदि सभी वर्गों को सुनाया और अब उनके ब्रह्मलीन हो जाने पर 'मानव सेवा संघ' के माध्यम से यह काम हो रहा है। उसी सन्दर्भ में यह अनुपम सन्त-वाणी आपके कल्याणार्थ टेप-अंकित रूप में आपके सम्मुख प्रस्तुत की जा रही है।

प्रस्तुतिकरण की त्रुटियों पर ध्यान न देकर, अमृतवाणी को प्रेम-पूर्वक पठन करेंगे तो जीवन को सफल बनाने की राह आपको अवश्य मिल जायेगी।

सन्त अमर हैं। उनकी वाणी अमर है। हम सब श्रोता उस अमरत्व से अभिन्न हो जायँ, इसी सद्भावना के साथ–

निवेदिका

**देवकी**

# १

## (ब)

श्री स्वामी जी महाराज के विचारानुसार मानव मात्र की मौलिक माँग है–योग, बोध और प्रेम। योग भौतिक–विकास की, बोध आध्यात्मिक-विकास की और प्रेम भाव–विकास की चरमसीमा है। भौतिक-विकास का मूल मन्त्र है "अपने अधिकारों का त्याग और दूसरों के अधिकारों की रक्षा।" आध्यात्मिक-विकास का मूल मन्त्र है–"अचाह और अप्रयत्न होना।" भाव-विकास का मूल मन्त्र है–अपनी असमर्थता से पीड़ित होकर सर्व-समर्थ प्रभु की शरणागति स्वीकार करना अथवा मोक्ष की स्वाधीनता को भी उस परम स्वाधीन पर न्योछावर करके उसको रस प्रदान करने के लिये उसका-प्रेमी होना।

---

**प्रवचन :**

अपने अधिकार का त्याग करना हैं इसलिए कि क्रोध की उत्पत्ति न हो; दूसरों के अधिकार की रक्षा करनी हैं इसलिए कि विद्यमान राग की निवृत्ति हो जाय। तो—विद्यमान राग की निवृत्ति हो जाय, नवीन राग तथा क्रोध की उत्पत्ति न हो, इसी को कहते हैं—राग-रहित होना। अब यह राग-रहित होना—इसका कोई दृश्य नहीं बना सकते—आपकी रहन-सहन का ढङ्ग ऐसा होगा तो राग-रहित होना कहलायेगा। राग-रहित होने का अर्थ यह है कि जो राग-रहित हो जाता है वह स्वभाव से ही योगवित् हो जाता है। राग-रहित होते ही योग की प्राप्ति होती है और जो योगवित् हो जाता है वह आत्मवित् हो जाता है, और जो आत्मवित् हो जाता है वह ब्रह्मवित् हो जाता है। तो चाहे आप भौतिकवाद की दृष्टि से योगवित् हो जाइये, चाहे आध्यात्मवाद की दृष्टि से आत्मवित् हो जाइए। चाहे आस्तिक-वाद की दृष्टि से ब्रह्मवित् हो जाइये। यह राग-रहित होने से होता है। किसी अन्य प्रकार से यह होता नहीं। और राग नाश ही तब होता है जब हम पर जो दूसरों के अधिकार हैं उनको देते रहें, अपना अधिकार छोड़ते जायें। इसी को धर्म-विज्ञान कहते हैं। धर्म का अर्थ इतना ही है—दूसरों के अधिकार देना, अपना अधिकार छोड़ना। यह धर्म तत्व है। यह मजहब नहीं है। मजहब और चीज हैं, धर्म और चीज है। मजहब तो धर्म का वाह्य रूप है—एक देशीय, और धर्म एक मौलिक तत्व है।

तो हम धर्म-विज्ञान के अनुसार राग-रहित हो सकते हैं। अध्यात्म-विज्ञान के अनुसार जीवनमुक्त हो सकते हैं। और आस्तिक-विज्ञान के अनुसार भगवद्भक्त हो सकते हैं। तो हम धर्म-विज्ञान के अनुसार राग-रहित हो सकते हैं, अध्यात्म-विज्ञान के अनुसार जीवनमुक्त हो सकते हैं और आस्तिक-विज्ञान के अनुसार भगवद्भक्त हो सकते हैं। भक्त होने में आप स्वाधीन हैं, मुक्त होने में आप स्वाधीन हैं और धर्मात्मा होने में भी आप स्वाधीन हैं। मुक्त को जगत की अपेक्षा नहीं रहती, धर्मात्मा की जगत अपेक्षा करता है। अन्तर समझ में आया? जो धर्मात्मा है उसकी संसार आवश्यकता अनुभव करता है। मुक्त-पुरुष को संसार की आवश्यकता नहीं रहती। और जिसको संसार की आवश्यकता नहीं रहती––वही भक्त हो जाता है। क्यों? क्योंकि संसार माने उत्पन्न हुई चीज और जिसको उत्पन्न हुई चीज की आवश्यकता नहीं रहती, उसे अनुत्पन्न हुआ जीवन मिल जाता है। इसी का नाम मुक्त होना है, इसी का नाम भक्त होना है।

**प्रश्न**––ब्रह्मवित् होना और भक्त होना एक ही बात है?

उत्तर––हाँ, एक ही बात है––एक ही बात है। यह तो ऐसा है भैया, कि स्थूल जगत, सूक्ष्म जगत, कारण जगत और स्थूल शरीर, सूक्ष्म शरीर, कारण शरीर। शरीर क्या है? सृष्टि का एक छोटा नमूना। जैसे शरीर के तीन रूप हैं–स्थूल, सूक्ष्म, कारण, वैसे ही जगत् के भी तीन रूप हैं–स्थूल, सूक्ष्म और कारण। तो स्थूल शरीर, सूक्ष्म शरीर और कारण शरीर। बुराई-रहित होने से तो स्थूल शरीर शुद्ध होता है, अचाह होने से सूक्ष्म शरीर शुद्ध हो जाता है और अप्रयत्न होने से कारण

शरीर शुद्ध हो जाता है। चाहे तो यों कह दो, अथवा यों कह दो कि बुराई-रहित होकर भलाई का फल छोड़ने से स्थूल शरीर और स्थूल जगत की आवश्यकता नहीं रहती और अचाह होने से सूक्ष्म शरीर और सूक्ष्म जगत की आवश्यकता नहीं रहती और अप्रयत्न होने से कारण शरीर और कारण जगत की आवश्यकता नहीं रहती। चाहे यों कह दो कि स्थूल सूक्ष्म में, सूक्ष्म कारण में विलीन हो जाता है और फिर देहातीत जीवन की प्राप्ति हो जाती है, ऐसा भी कह सकते हैं। अब जिसको जो रुचिकर हो, जैसी जिसकी मान्यतायें हों। इस चीज को दूसरी तरह से भी कह सकते हैं—इन्द्रियों की शक्ति को मन में लय करदो, मन की शक्ति को बुद्धि में लय कर दो। तो जब इन्द्रियाँ अविषय होंगी, मन निर्विकल्प होगा, बुद्धि सम होगी–यह समाधि कह दो, योग कह दो। और अगर योग ही जीवन है, बोध और प्रेम की प्राप्ति न हो, तो यह शुद्ध भौतिकवाद है।

भौतिकवाद का अर्थ यह नहीं है जैसा आजकल लोग लगाते हैं कि खाओ, पीओ, मौज करो। भौतिकवाद का अर्थ है कि ठीक योगविज्ञान की प्राप्ति हो जाय। उसमें बड़ी बड़ी अलौकिक शक्तियाँ भी आती हैं। बोध जो है यह अध्यात्म विज्ञान है और प्रेम आस्तिक विज्ञान है। लेकिन इन तीनों में इतना एकत्व है कि अगर योग की पूर्णता हो जाय—पूर्ण योग की प्राप्ति हो जाय तो बोध जरूर हो जायेगा और बोध प्राप्त हो जाय तो प्रेम जरूर हो जायगा। जैसे, भोग की रुचि रहते हुए मोह और आसक्ति नाश होती है क्या ? क्या राय है ?

**श्रोता**—नहीं होती।

नहीं होती है न ! चूंकि भोग है, इसलिए मोह और आसक्ति है। योग है इसलिए बोध और प्रेम है। तो जब योग, बोध और प्रेम की प्राप्ति होती है तो अभाव का अभाव हो जाता है। फिर अभाव शेष नहीं रहता और वह प्राप्ति तभी हाती है जब हम ठीक धर्मात्मा होते हैं, अचाह होते हैं अथवा शरणागत होते हैं।

तीन तरह से योग की प्राप्ति हो जाती है—धर्मात्मा होने से भी—यह कर्मयोग कहलाता है। अचाह होना–यह ज्ञानयोग कहलाता है। शरणागत होना–यह भक्तियोग कहलाता है। तो चाहे कर्म के द्वारा योग प्राप्त करो अथवा ज्ञान के द्वारा योग प्राप्त करो और चाहे आस्था के द्वारा योग प्राप्त करो। योग एक अनिवार्य तत्व है जो कि मनुष्यमात्र को मिल सकता है। तीनों में से किसी भी प्रकार से आप योग प्राप्त कर सकते हैं।

अब जो सुखमय परिस्थिति में हैं, उन्हें धर्मात्मा होकर योग प्राप्त करने में सुलभता रहती है। और जिनकी दुःखमय परिस्थिति है, उन्हें अचाह होकर योग सुलभ रहता है। और जिनका आस्था, श्रद्धा, विश्वास वाला जीवन है, उनको शरणागति से योग की प्राप्ति होती है। अब अपनी बनावट देखो कि आप में आस्था, श्रद्धा, विश्वास की प्रबलता है कि दुःख की प्रबलता है कि सुख की सबलता है। अगर सुखमय जीवन है तो धर्मात्मा होना अनिवार्य है। अगर दुःखमय जीवन है तो अचाह होना अनिवार्य है। अगर आस्थावान जीवन है तो शरणागत होना अनिवार्य है। इनमें से किसी के द्वारा भी आप राग-रहित होकर योग, बोध, प्रेम को प्राप्त कर सकते हैं।

**श्रोता**–जीवन की पूर्णता में तीनों आ जायेंगी न ?

**स्वामी जी**–तीनों आ जायेंगी ।

**प्रश्न**–अकिंचन और अचाह होने के बाद अप्रयत्न होना क्या है ?

**पूज्यपाद**–देखो ! अकिंचन और अचाह होने के बाद एक अहंकृति भी तो होती है न! करने में भी तो रस आता है। जैसे आप अपने जीवन में देखिए कि अगर हम कहें कि पैर दबाओ तो कैसा लगता है? तो कहते हैं कि "बहुत अच्छा लगता है, बैठने से भी ज्यादा शान्ति लगती है -" तो एक अहंकृति का भी सुख होता है। मैं कुछ कर रहा हूँ–इस बात का भी सुख होता है। अहंकृति-रहित माने अपने लिए मुझे कुछ भी करना शेष नहीं है–इसको अप्रयत्न होना कहते हैं। करना शेष नहीं है अर्थात् अपने लिए कुछ भी करना शेष नहीं है–यह अहंकृति-रहित होना हो गया ।

**श्रोता**–यह अप्रयत्न होना क्या अध्यात्मवाद है ?

**स्वामी जी**–हाँ अध्यात्मवाद है, शुद्ध अध्यात्मवाद है ।

**प्रश्न**–अच्छा, इसमें आस्था......।

**श्री महाराज**–देखो, देखो ! आस्था का अर्थ होता है कि जिसने अपनी असमर्थता से पीड़ित होकर, सर्वसमर्थ का आश्रय ले लिया। तो आस्था में भी तीनों बातें आ जायेंगी, अपने आप। और धर्मात्मा में भी तीनों बातें आ जायेंगी और आध्यात्मवाद में भी तीनों बातें आ जायेंगी । आस्था का मतलब क्या है ?अगर विचार करके देखा जाय तो परमात्मा का मानना क्यों जरूरी है? देखा तो है नहीं,समझ में आया नहीं! बोलो! परमात्माका मानना

क्यों जरूरी है ? ऐरे-गैरे नत्थू-खैरे सभी परमात्मा को मान लेंगे ? ऐसा नहीं होता भाई। परमात्मा को मानने का प्रश्न उन लोगों को होता है कि जिन्हें मुक्ति भी खारी लगे। शान्ति और मुक्ति भी जिनको खारी लगे, वे परमात्मा को मानने के हकदार हैं–ईमानदारी से देखो तो। अथवा जो असमर्थता से पीड़ित हैं। असमर्थता से पीड़ित हैं -और बिना लक्ष्य की प्राप्ति के रह नहीं सकते। वे कहते हैं--देखो, अब दुःखहारी हरि को पुकारो, अब भयहारी प्रभु को पुकारो। देखिए, एक बात सोचने की है, बड़ी गम्भीर। अगर परमात्मा को अपना मनाना अभीष्ट हो तो दुनिया में किसकी मजाल है कि न माने। बोलो है, हिम्मत किसी की ?

**श्रोता**–नहीं।

लेकिन परमात्मा को अपना मनाना अभीष्ट नहीं है। सृष्टि को कुछ लोग ईश्वरकृत मानते हैं, कुछ लोग प्राकृतिक यानी स्वभाव से ही मानते हैं। यानी खेल को मानते हैं, खिलौने को मानते हैं और उसके बनाने वाले कुम्हार को नहीं मानते हैं। ऐसे दोनों सिद्धान्त हैं। तो जो सृष्टि को अनादि और अनुत्पन्न हुई मानते हैं और सृष्टिकर्ता को नहीं मानते हैं, उन्हें धर्मात्मा होना पड़ता है और अचाह होना पड़ता है। आप सृष्टि का विधान मानोगे कि नहीं ? सृष्टि का विधान क्या है? कि मेरे साथ कोई बुराई न करे। तो बुराई-रहित होना सृष्टि का विधान हो गया। अच्छा, और मुझसे सबल मेरी सहायता करे। तो सहयोग देना विधान हो गया। तो जो सृष्टि को माने, परमात्मा को न माने, उसको भी यह दो बातें माननी पड़ेंगी कि नहीं ? सहयोग और बुराई-रहित होना। तो बुराई रहित होने से क्या

होगा ? तुम भले हो जाओगे। भले होने से क्या होगा ? तुम्हारे द्वारा भलाई होगी। अगर उस होने वाली भलाई का फल भोगोगे तो आप फिर पराधीन हो जाओगे। क्योंकि कर्मफल भोग की रुचि से ही मनुष्य पराधीन होता है आपने दान दिया और उसका फल आपको चाहिए। तो फल तो प्राकृतिक बनेगा ही। क्या राय है ? तो दान का फल चाहने वाला पराधीन होगा कि स्वाधीन ?

**श्रोता**-पराधीन।

अच्छा, तप का फल चाहने वाला स्वाधीन होगा कि पराधीन? सोचो ! लेकिन आगे आपके सामने प्रश्न पैदा होगा कि भाई ! मैंने भलाई तो की, पर इसका फल मुझको नहीं चाहिए। यानी अचाह होना पड़ेगा। तो अचाह होने से क्या होता है कि जगत की तो निवृत्ति हो जाती है, और जो जगत की उत्पत्ति से पूर्व है-जगत काल में है-न रहने पर भी है- उसकी प्राप्ति हो जाती है। इसलिए अचाह होना एक ऐसी सुन्दर साधना है कि परमात्मा तो मिल जाता है-मानो तो, न मानो तो-और जगत छूट जाता है। चाहे उसे सत्य मानो तब भी छूट जायगा, मिथ्या मानो तब भी छूट जायगा, अनित्य मानो तब भी छूट जाया।

तो अब अचाह होने की तैयारी कौन कर सकता है ? जिसे कुछ नहीं चाहिए। कुछ नहीं चाहिए का मतलब क्या होता है, बोलो ? थोड़ा चाहिए यह थोड़े ही होता है। कुछ नहीं चाहिए का मतलब होता है कुछ नहीं चाहिए। न भोग चाहिए, न मोक्ष चाहिए। तो जो भोग-मोक्ष निराकांक्षी है वह तो होता है भगवद्भक्त। और जो मोक्षार्थी है उसे मोक्ष-प्राप्ति होती है।

जो भोगार्थी है उसे भोग प्राप्त होता है। तो सकाम कर्म से भोग प्राप्त होता है, निष्काम कर्म से मोक्ष प्राप्त होता है। परमात्मा को मानने की जरूरत ही नहीं है। लेकिन नहीं भाई, जिसे मोक्ष भी खारी लगे वह परमात्मा को माने, ऐसा है। परमात्मा का मानना एक अत्यन्त ही उच्चकोटि की बात है। अगर किसी को जँचे तो, नहीं तो रहो मोक्ष के आनन्द में। काहे को परमात्मा को मानते हो भैया। परमात्मा थोड़े ही कहने आया है कि तुम मुझे मान लो। और परमात्मा को मनाना हो तो तुम्हारी हिम्मत है क्या ? अभी-अभी ऐसा विधान बना दे परमात्मा कि देखो ! अगर तुम मुझको नहीं मानोगे तो मैं तुमको श्वास नहीं लेने दूंगा। तो दम घुटने लगे, तो मानोगे कि नहीं ? क्या राय है ?

**श्रोता**–मानना पड़ेगा।

तो परमात्मा कितने उदार हैं, परमात्मा कितने महान हैं और परमात्मा के मानने वाले कितने उच्चकोटि के विरक्त और अनुरक्त हैं। आ-हा-हा, कमाल है इसमें। यानी आप विचार करके देखिये–मोक्ष के आनन्द में जो सन्तुष्ट है, वह विरक्त है ? वह तो अपने में सन्तुष्ट है। भोग से, दुःख से विरक्त है, पराधीनता से विरक्त है, अशान्ति से विरक्त है, अभाव से विरक्त है। लेकिन परमात्मा को मानने वाला मोक्ष से भी विरक्त है ! वैसे तो आजकल सभी लोग कह देते हैं कि हम परमात्मा को मानते हैं, पर परमात्मा को मानने वाला तो ओ-हो-हो ! परमात्मा को मानने वाला परमात्मा को प्यारा लगता है। परमात्मा जिसको प्यार करे, वह परमात्मा का मानने वाला हुआ। और मोक्ष में जो आनंदले–वह अपना माननेवाला हुआ।और शान्तिऔर सद्भाव में जो रहे, वह जगत को मानने वाला हुआ। तो जगत को

मानकर हमको शान्ति और सद्‌भाव चाहिए, अपने को मानकर मोक्ष चाहिए, परमात्मा को मानकर अगाध प्रेम चाहिए।

**श्रोता**–महाराज जी ! इस हिसाब से तो जब मोक्ष खारी लगे तब परमात्मा को मानना चाहिए, परमात्मा को मानना पहले जरूरी कैसे हुआ ?

**स्वामी जी**–ऐसा नहीं है पण्डित जी, मोक्ष खारी नहीं। मैं आपसे पूछता हूँ कि मोक्ष का अर्थ क्या है ? दुःखों की अत्यन्त निवृत्ति। अगर हम स्वतन्त्र रूप से आचार्यों के मत पर विचार करें तो दुःखों की अत्यन्त निवृत्ति बुद्ध ने भी मानी है, जैनियों ने भी मानी है, पर परमात्मा को नहीं माना है।

**पण्डित जी**–मेरा प्रश्न यह नहीं है। मेरा प्रश्न यह है कि परमात्मा का मानना तभी होगा जब मोक्ष प्राप्त कर लेंगे? पहले कैसे मान सकते हैं ?

**स्वामी जी**–आस्था के आधार पर।

**प्रश्न**–आस्था के आधार पर तो माना ही जाएगा।

**स्वामी जी**–अगर मोक्ष खारी लगे तब तो परमात्मा मिल जायेगा।

**पण्डित जी**–मेरे समझ में आया था कि मोक्ष खारी लगने पर परमात्मा को माना जायेगा।

**स्वामी जी**–यह नहीं पण्डित जी ! मैंने यह नहीं कहा। मैंने कहा था कि जो मोक्षार्थी है वह विरक्त है भोग से, और जो प्रेमार्थी है वह मोक्ष से भी विरक्त है–यह कहा था। महान विरक्त है। तो आसान चीज नहीं है परमात्मा का मानना। मोक्ष उसे नहीं कहते जो अच्छा न लगे। मैं मोक्ष का

अपमान करने को राजी नहीं हूँ। अखण्ड रस है मोक्ष में। शान्त रस है मोक्ष में। दुःखों की निवृत्ति है मोक्ष में। मोक्ष कोई घटिया चीज थोड़े ही है जो कि अच्छी नहीं लगेगी ! लेकिन मोक्ष तो उन लोगों की चीज है कि जिन्होंने परमात्मा के अस्तित्व को नहीं माना। तो भी उन्हें मोक्ष तो चाहिए। ऐसे ही जिन्होंने अपने अस्तित्व को नहीं माना, उन्हें भी तो दुःखों की निवृत्ति चाहिए। इस तरह से मैं बोल रहा हूँ पण्डित जी।

भगवान बुद्ध ने "निर्वाण" शब्द इस्तेमाल किया, मोक्ष शब्द इस्तेमाल नहीं किया। और उन्होंने चार सत्य रखे सामने- दुःख है, उसका कारण है, उपाय है और निवृत्ति है। तो दुःख की अत्यन्त निवृत्ति कह कर वे मौन हो गये। अच्छा, जैन मत ने मोक्ष को सामने रख दिया, 'आत्मा' शब्द को सामने रख कर कि आत्मवित् हो जाओ, मोक्ष प्राप्त हो जायेगा। वे 'अध्यात्म' कह कर चुप हो गये। तब भक्तों ने परमात्मा की बात कही। अतः मैं यह निवेदन कर रहा था कि इन तीनों के रस में भेद है। वैसे तो मोक्षार्थी कब तक है ? जब तक मोक्ष नहीं हुआ। अहं रहेगा ही नहीं मोक्ष में। दुःखी कब तक है ? जब तक दुःख का अत्यन्त अभाव नहीं हुआ। दुःखी रहेगा ही नहीं। तो परिच्छिन्नता का तो नाश हो जायेगा तीनों प्रकार से। ऐसा नहीं कि नहीं होगा। लेकिन मैं आपसे निवेदन करता हूँ कि आस्था के आधार पर परमात्मा माना जाता है। ज्ञान के द्वारा परमात्मा को सिद्ध नहीं किया जाता। प्रमाण से परमात्मा को सिद्ध करते हैं। प्रमाण में आधार होता है, आस्था का। हम पहले स्वीकार करें कि हम श्रुति-भगवती को मानते हैं। तो श्रुति-भगवती से परमात्मा की चर्चा चली है। इसी आधार पर

हमने एक बार श्री करपात्री जी के मुख से सुना था कि "हम तो ब्रह्म को इसलिए मानते हैं कि उसकी चर्चा वेद में है।" वेद को मानते हैं, वेद के आधार पर ब्रह्म को मानते हैं। "हम कृष्ण को इसलिए मानते हैं कि उनकी चर्चा गीता में है।" तो यह जो एक शास्त्रवाद है वह परमात्मावाद कहलाता है शुद्ध रूप से। अब शास्त्र तो सभी हैं-धर्मशास्त्र, अध्यात्मशास्त्र, आस्तिकशास्त्र। इसलिए मैं तो इस दृष्टि से निवेदन करता हूं कि परमात्मा का मानना बहुत महान काम है। एक बात। दूसरी बात है कि जैसे मान लीजिए कोई अपनी असमर्थता से पीड़ित है, वह भी परमात्मा को मान सकता है। पंडित जी, मेरी आदत है कि मैं विचार को विश्वास में मिलाता नहीं हूं। मेरा निवेदन यह है कि जो असमर्थता से पीड़ित है, जैसे श्री विभीषण जी ने प्रश्न किया हनुमान जी से। कथा की बात है। क्योंकि विश्वास में ही यह सब चलता है। तो प्रश्न यह किया कि-

'तामस तन कछु साधन नाहीं,
प्रीति न पद सरोज मन माहीं।'

तामस शरीर होने से तो मैं धर्मात्मा नहीं हो सका और चतुष्टय-साधन-सम्पन्न न होने से मैं ज्ञान योग का अधिकारी नहीं हो सका और प्रीति के अभाव में मैं भक्ति योग का अधिकारी नहीं हो सका। अधिकारी नहीं हो सका सो तो ठीक है, परन्तु क्या ऐसे मुझ अनधिकारी पर भी भानुकुलनाथ कृपा करेंगे ? और हनुमान जी ने न तो मंत्र-दीक्षा दी, न तंत्र-दीक्षा दी और न कोई प्रमाण उनके सामने रखा। अपना प्रमाण रख दिया कि 'मुझ जैसे अपावन पर भी प्रभु ने कृपा की है।' यानी

प्रभु कृपा करते हैं–यह बात हनुमान जी ने बताई और यह सुनकर के विभीषण जी ने स्वीकार कर ली। गुरु हो तो हनुमान जैसा और शिष्य हो तो विभीषण जैसा। और जब स्वीकार कर लिया तो क्या हुआ ?आ–हा–हा ! वही विभीषण है जो यह कहता था कि मैं अनधिकारी हूँ, वह उस रावण को जो कि वेदों का पण्डित था–चारों वेदों का पण्डित था रावण, पण्डित जी ! उसको लगा समझाने विभीषण, तो उसने एक लात दी।

तो मैं यह निवेदन कर रहा था कि परामात्मा को कौन मानता है ? या तो ऐसा आदमी जो मोक्ष के आनन्द में भी सन्तुष्ट नहीं होता। उससे भी परे का कोइ आनन्द हो तो उसे चाहिए। या वह–जो मांग से निराश नही है। मांग तो सबकी एक ही है–चाहे कोई मोक्षार्थी हो, चाहे कोई धर्मात्मा हो, चाहे कोई आस्तिकवादी हो–रसरूप जीवन की मांग है। रस-रूप जीवन में तीन चीजें होती हैं–जिसका कभी नाश न हो, जो रसरूप हो और ज़ो चिन्मय हो। चेतना हो जिसमें, रस हो और जिसका नाश न हो–उसी को जीवन कहते है। धर्मात्मा को भी रसरूप जीवन मिलता है, मोक्षार्थी को भी रसरूप जीवन मिलता है और प्रेमार्थी को भी रसरूप जीवन मिलता है। रस में भेद करते हैं लोग। कहते हैं प्रेम का जो रस है वह अनन्त है और मोक्ष का रस अखण्ड है और धर्मात्मा का रस शान्त है। तो शान्त रस, अखण्ड रस, अनन्त रस–ये रस के भेद है। वास्तव में उसमें स्वरूप भेद नहीं है। शान्तरस में भी परमात्मा की प्राप्ति है, अखण्ड-रस में भी परमात्मा की प्राप्ति है, अनन्त-रस में भी परमात्मा की प्राप्ति है। पर साधकों के दृष्टिकोण से इनमें केवल रस का भेद किया जाता है, ऐसा मैं मानता हूं।

नहीं तो जिसे मोक्ष मिलेगा उसे परमात्मा भी मिलेगा। जिसे परमात्मा मिलेगा उसे मोक्ष भी मिलेगा। जिसे शान्ति मिलेगी उसे मोक्ष भी मिलेगा। जिसकी दु:खों की अत्यन्त निवृत्ति हो गई, उसे मोक्ष भी मिलेगा, परमात्मा भी मिलेगा। चीज तो एक है न ! मांग तो अनेक नहीं हैं, मांग तो एक हैं।

तो मैं यह निवेदन कर रहा था कि आज हम इस बात को सोचें कि अगर अभाव हमसे सहा नहीं जाता तो भाई, अभाव का अभाव हो सकता है अचाह होने से। एक उपाय सोचें, बहुत से न सोचें। अब अचाह किस-किस प्रकार से बनेंगे आप, आप ही को न सोचना पड़ेगा ! जब तक अपना करके मैं कुछ भी मानूंगा, तब तक अचाह हो ही नहीं सकता। अथवा जब तक भगवान को अपना नहीं मानूंगा, तब तक अचाह हो ही नहीं सकता। तो किसी तरह से आप हो जायं, अचाह हो जायं। अचाह होने से अभाव की निवृत्ति हो जायेगी। यह निर्विवाद सत्य है।

—:-०-:—

# २

## (अ)

(१) सेवा की साधना का मूल मन्त्र है—"बुराई रहित होना।"

(२) निज स्वरूप के बोध का साधन है—"चाह और प्रयत्न रहित होना।"

(३) प्रभु प्रेमी होने के लिए आवश्यक है—"अपने सहित अपना सर्वस्व उनके समर्पित करना है।"

(४) यह सब शरीर धर्म नहीं है–"स्वधर्म है।"

(५) "मैं" की खोज करते करते "मैं"–"है" में विलीन हो जाता है।"

(६) "मैं" जब "है" में विलीन हो जाता है तो "मैं" की खोज का प्रश्न हल हो जाता है।

(७) "मैं" को ब्रह्म" कहना साधन पद्धति है, अनुभव सिद्ध नहीं है।

(८) संसार को नापसन्द किए बिना उससे मन हटता नहीं है, और दिव्य-चिन्मय-स्वरूप जीवन को पसन्द किए बिना उसमें मन लगता नहीं है।

## प्रवचन :

सेवा करने से हमें अपने को जानने की और प्रभु से प्रेम करने की सामर्थ्य आ जाती है। इस तरह सेवा भी अपने लिये ही हुई, लेकिन लम्बे रास्ते से हुई। तो मैं यह निवेदन कर रहा था कि जग की सेवा यानी आवश्यक कार्य में भाग लेना, यह सेवा हो गयी। और उस सेवा के अन्त में अचाह होकर–मुझे कुछ नहीं चाहिये और निर्मम होकर–मेरा कुछ नहीं है, अर्थात् या तो हम अपने को समर्पण कर दें, या हम अचाह और अप्रयत्न हो जायं। तो जब हम अचाह हो जाते हैं, जब हम अप्रयत्न हो जाते हैं, तो अपने आप हमारा प्रवेश उस देहातीत जीवन में हो जाता है जहाँ "मैं" और "है" का भेद नहीं रहता, आत्मा-परमात्मा का भेद नहीं रहता। उसमें हमारा प्रवेश होता है अचाह होने से, अप्रयत्न होने से। अचाह कैसे हो सकते हैं? मुझे कुछ नहीं चाहिए। जब मैं सेवा करूँगा तो मुझे सेवा के सिवा और कुछ नहीं चाहिये। सेवक के पास अपना कुछ नहीं होता। अतः सेवा करने से अचाह होने की, अप्रयत्न होने की सामर्थ्य आती है। चूंकि जीवन में करने का राग है इसलिए अगर सेवा नहीं करोगे तो भोग करोगे। और जब भोग करोगे तब अचाह नहीं हो सकोगे, तब अप्रयत्न नहीं हो सकोगे। चाह भी रहेगी और प्रयत्न भी रहेगा। चाह और प्रयत्न जब तक रहेगा, तब तक देह के साथ मिले रहोगे। हो अलग, पर मिले रहोगे। जब तक देह के साथ मिले रहोगे, तब तक पराधीन रहोगे, स्वाधीन नहीं हो सकते। तब तक जन्म और मरण के

चक्कर में घूमते रहोगे, मुक्त नहीं हो सकते। अशान्त रहोगे, शान्त नहीं हो सकते। सुख-दुःख में बंधे रहोगे, सुख-दुःख से अतीत नहीं हो सकते। इसलिए ये प्रोग्राम रखा कि भाई, जग की सेवा करो, अपनी खोज करो, प्रभु से प्रेम करो।

तो अपनी खोज करने के लिए आपको किसी और का सहारा नहीं लेना पड़ेगा। कोई परिश्रम नहीं करना पड़ेगा। पराश्रय और परिश्रम को छोड़कर ही तुम अपनी खोज कर सकोगे नहीं तो अपनी खोज नहीं होगी। और प्रेम के लिए प्रभु को ही अपना मानना पड़ेगा। वे ही मेरे अपने हैं, और कोई मेरा अपना नहीं है। और उनसे भी मुझे कुछ नहीं चाहिये, यह भी मानना पड़ेगा। और अपने पर उनका पूरा अधिकार है, यह भी मानना पड़ेगा। किसी को किसी से प्रेम करना हो तो उसको अपना मानना होता है और अपना मानने के लिये अपने को उनके हाथ में दे देना होता है। मुझ पर तुम्हारा पूरा अधिकार है, चाहे जैसे रक्खो, चाहे कुछ करो और मेरा तुम पर कोई अधिकार नहीं है; अर्थात् मुझे तुमसे कुछ नहीं चाहिये। मुझे तुमसे कुछ नहीं चाहिये, मेरा तुम पर पूरा अधिकार है–इसके पूर्व प्रेम केवल बातों में नहीं हो सकता। न नाक बन्द करने से होता है, न आँख बन्द करने से होता है। किसी प्रकार प्रेम उत्पन्न नहीं होता सिवा इसके और सेवा विना किए कोई कभी अचाह नहीं हो सकता, अप्रयत्न नहीं हो सकता। इसलिए पुरुषार्थ में कौन-कौन सी बातें रहीं? कि सेवा करके अपनी खोज करो और अपनी खोज करने के लिए अचाह होना पड़ेगा, अप्रयत्न होना पड़ेगा। क्योंकि, शरीर के द्वारा अपनी खोज नहीं हो सकती, इन्द्रियों के द्वारा अपनी खोज नही हो सकती, मन-

बुद्धि के द्वारा अपनी खोज नहीं हो सकती, प्राणों के द्वारा अपनी खोज नही हो सकती । इन सबसे अलग होने पर ही अपने द्वारा अपनी खोज हो सकती है । तो इन सबसे अलग होने का उपाय क्या है ? कि सेवा करो और कुछ मत चाहो ।

सेवा करो अथवा अपने लिये कुछ मन करो । अपने लिये कुछ मत करो; क्योंकि अपने लिए कुछ करने की बात है नहीं । क्यों नहीं है ? कि अपनी जो मांग है–अमर जीवन की–वह मांग किसी कर्म के द्वारा पूरी नहीं होगी । हम जो अमर जीवन चाहते हैं, हम जो स्वाधीन जीवन चाहते हैं, हम जो चिन्मय जीवन चाहते हैं–तो वह जीवन किसी शरीर के आश्रित, परिश्रम द्वारा प्राप्त नहीं होता । इसलिये, अपने लिये करने की बात नहीं है; और वह जीवन संसार की सहायता से भी प्राप्त नहीं होता । अगर वह जीवन संसार की सहायता से प्राप्त होता, तब तो उस जीवन के लिये खोज करने की बात नहीं होती । देखिये, एक होता है खोज करना; एक होता है उत्पन्न करना । कर्म का सम्बन्ध होता है उन चीजों से जो उत्पन्न होती हैं । यह फर्क मालूम होता है कि नहीं ? यह भाषा समझ में आयी या नहीं ? खोज करना और उत्पन्न करना । जैसे, खेत में अनाज का उत्पन्न करना, तो इसमें कर्म अपेक्षित हुआ । लेकिन कोई चीज अगर मौजूद है और उसकी खोज करना है, तो यह कर्म है क्या ? भाई देखो, न समझ में आये तो खून लगाकर शहीदों में शामिल मत होना । सुनते-सुनते जन्म बिता दो और समझ कुछ न पाओ, उससे कोई लाभ नहीं । इसलिए मैं बार-बार पूछता हूँ । तो किसी चीज को पैदा करना होता है और किसी चीज की खोज करना होता है । खोज याने तलाश । तलाश उस चीज की की जाती है जो 'है'; और पैदा उसे किया

जाता है जो 'नहीं है'। कभी है और कभी नहीं है, उसको उत्पन्न किया जाता है और जो सदैव है, सर्वत्र है उसकी खोज की जाती है।

तो 'यह' के सम्बन्ध में जो कुछ जरूरत होती है उसके लिए कर्म किया जाता है। जैसे कल अगर जाना हैं किसी को बम्बई डाक्टर को दिखाने के लिए, तो उसके लिये कर्म करना पड़ेगा। अब उस डाक्टर की पहुँच 'मैं' तक न होकर शरीर तक रहेगी। तो संसार के जितने कर्म हैं वे शरीर तक रहते हैं, 'मैं' तक नहीं पहुँचते। 'मैं' की खोज करने के लिए शरीर का आश्रय छोड़ना पडता है। और शरीर का आश्रय छोड़ने के लिये सेवा करनी पड़ती है। अगर तुम सेवा नहीं करोगे और करने का राग बना रहेगा, करने की अगर रुचि बनी रहेगी, तो तुम शरीर में चिपके रहोगे और व्यर्थ चेष्टा करते रहोगे या व्यर्थ-चिन्तन होता रहेगा। कब तक होता रहेगा ? जब तक तुम सेवा नहीं करोगे। यह बात, यह भाषा समझ में आई ? कोई भाई-बहन ऐसा है जिसको यह समझ में न आयी हो ?

सेवा का मतलब क्या है ? सेवा का मतलब यह है कि जो काम आप करो उसमें दूसरों का हित होना चाहिये। उसका सम्बन्ध दूसरे के साथ होना चाहिये। अपने सुख में उसका उपयोग नहीं होना चाहिए। यानी हम यह नहीं सोचें कि हम जो करें उससे हमें मजा आये। हम जो करें उससे दूसरे का हित हो, दूसरे को प्रसन्नता हो, दूसरे का कल्याण हो। दूसरे का सुख हो—सो नहीं। नहीं तो सभी कामी-कुत्ते कहेंगे कि आओ! हमारे सुख के लिए हमसे यह कराओ। लेकिन उसमें उसका हित नहीं होगा न ? तो जिसमें दूसरे का हित निहित

हो उसको सेवा कहते हैं। जिसमें अपना सुख हो उसे भोग कहते हैं। भोग से शरीर का सम्बन्ध नहीं छूटता- सेवा से शरीर का सम्बन्ध टूटता है। और जब शरीर का सबन्ध टूटता है तब हम अपनी खोज के अधिकारी होते हैं। जब मनुष्य अपनी खोज करने चलता है तो खोज करते-करते स्वयं खो जाता है और जो सदा-सदा के लिए है, वही रह जाता है। ये तो मैंने आपको पुराने खोज करने वालों का फैसला सुना दिया। पर उस फैसले के सीखने से काम नहीं चलेगा। तुम्हें भी अपने को खो देना पड़ेगा, तब काम चलेगा। इसलिये सेवा करो और अपनी खोज करो।

अपनी खोज करते-करते, 'मैं' को ढूंढ़ते-ढूंढ़ते 'मैं' 'है' में विलीन हो जाता है। क्यों? "मैं" एक ऐसा तत्व है, जो बिना आश्रय के रह नहीं सकता; चाहे यह संसार का आश्रय ले अथवा परमात्मा का। जब संसार का आश्रय लेता है तो संसार को ही "मैं" मानने लगता है और यदि परमात्मा का आश्रय लेता है तो परमात्मा को ही 'मैं' मानने लगता है। यह तो मैंने एक फैसला सुनाया। लेकिन इसका तरीका आपको जानना चाहिए कि "मैं" की खोज कैसे की जाय। 'यह' से 'मैं' का सम्बन्ध तोड़ दिया जाय। "यह" में मेरा कुछ नहीं है, 'यह' से मुझे कुछ नहीं चाहिये। "यह" के द्वारा "यह" की सेवा करनी है। यह भाषा समझ में आयी या नहीं? 'यह' माने शरीर। शरीर के द्वारा संसार की सेवा करनी है। 'यह' माने संसार। संसार में कुछ मेरा नहीं है, संसार से मुझे कुछ नहीं चाहिये। जब संसार में मेरा कुछ नहीं है तो संसार की सहायता के बिना मैं कुछ कर नहीं सकता; और जब मैं कुछ कर ही नहीं सकता तो सचमुच मुझे यह विधान मानना पड़ेगा कि

कि मुझे अपने लिये कुछ करना नहीं है। जो कुछ करना है संसार के लिए करना है। सेवा करनी है संसार के लिये। मुझे अपने लिये कुछ नहीं करना है।

देखिये, सेवा का जो क्रियात्मक रूप होता है, जो प्रैक्टिकल रूप होता है, वह अखंड नहीं होता। अभी हम बोल रहे हैं तो चुप भी होंगे। आप सुन रहे हैं तो चुप भी होंगे। आप देख रहे हैं तो न देखने की स्थिति में भी जायेंगे। सोच रहे हैं तो कुछ काल के बाद न सोचने की स्थिति में भी जायेंगे। जायेंगे कि नहीं? जायेंगे, जाना ही पड़ता है। तो जागृति में ज्ञानपूर्वक न करने की जो स्थिति है उसका नाम है 'योग'। और थककर, स्वभाव से विवश होकर, जो न करने की स्थिति है उसका नाम है सुषुप्ति। उसका नाम योग नहीं है। तो सुषुप्ति से हमको आराम तो मिलता है, शक्ति तो मिलती है, लेकिन हमें ज्ञान नहीं रहता कि हम कहाँ चले गये, न करने की स्थिति में! इस बात का पता नहीं चलता। लेकिन जाग्रत में जब न करने की स्थिति आती है तो इस बात का बोध होता है कि हम किसी काल में भी शरीर नहीं हैं। न स्थूल शरीर हैं, न सूक्ष्म शरीर हैं, न कारण शरीर हैं। हम किसी काल में शरीर नहीं हैं। जब हम शरीर नहीं हैं तो हम क्या हैं? यह देखना पड़ेगा। अब आप कह दीजिये, सुन लीजिये, मान लीजिये कि– मैं आत्मा हूँ'–तो ऐसे काम नहीं चलेगा। "हम शरीर नहीं हैं"–इस बात को शरीर से अलग होकर अनुभव करो कि हम शरीर नहीं हैं। शरीर से असंगता का अनुभव हमें उस जीवन से, उम सत्य से, जिसका कभी नाश नहीं होता, उससे अभिन्न कर देता है, मिला देता है, एक कर देता है। तो अब अन्तर क्या हुआ? कि शरीर के साथ हम कभी भी एक

नहीं हो पाते। लेकिन शरीर से अतीत जो जीवन है, उसके साथ हमारी एकता हो जाती है। उसकी समीपता आती है पहले, फिर एकता आती है और फिर अभिन्नता आती है। तो उसके साथ हमारी एकता होती है। लकिन शरीर के साथ हम कितने ही मिल जायँ, पर एक नहीं ही पाते। हमेशा यही सोचते हैं कि "मेरा हाथ"। यह नहीं सोच पाते कि "मैं हाथ"। यही कहते हैं कि "मेरा शरीर", यह नहीं कह पाते कि "मैं शरीर"। इसी प्रकार मेरा मन, मेरे प्राण, मेरी बुद्धि, मेरी इन्द्रियाँ, इत्यादि-इत्यादि। तो यह तीनो शरीरों का जो एक संगठन दिखाई देता है आपको, इन तीनों ही शरीरों के साथ "मैं पन" नहीं आता, "मेरा पन" आता है। यानी मैं नहीं हूँ, यह मेरा है, ऐसा महसूस करते हैं। लेकिन वास्तव में और गहराई से देखा जाय तो जैसे "मैं" नहीं है ऐसे "मेरा भी" नहीं है, क्योंकि शरीर को आप संसार से अलग नही कर पाते। कर सकते हैं क्या ? शरीर को संसार से अलग ले जा सकते हैं क्या ? नहीं ले जा सकते। तो शरीर को यदि आप मेरा कहते हो तो भाई, संसार को मेरा क्यों नही कहते ? और जब संसार को मेरा नहीं कहते हो, तो शरीर को मेरा क्यों कहते हो ? इस प्रकार शरीर मैं नहीं हूँ,---यह भी सिद्ध है और शरीर मेरा नहीं है---यह भी सिद्ध है।

जब ये दोनों बातें आपको सिद्ध हो गयीं कि शरीर न मैं हूँ, न मेरा है तो सब विकार नाश हो गये। शरीर मैं नहीं हूँ---तो इसमें जो बंधे हुए थे हम जड़ता में, वह नाश हो जायेगी। प्रमाद नाश हो जायेगा, जड़ता नाश हो जायेगी और फिर "मैं" की "है" के साथ एकता हो जायेगी---चाहे योग होकर, चाहे बोध होकर और चाहे प्रेम होकर। यानी "मैं" को

बोध प्राप्त हो जाय तब भी "है" के साथ एकता हो जाती है, "मैं" को योग प्राप्त हो जाय तब भी "है" के साथ एकता हो जाती है और "मैं" के अन्दर प्रेम की अभिव्यक्ति हो जाय तब भी एकता हो जाती है। तो "मैं" का जो अन्तिम विकसित रूप है वह योग है, बोध है और प्रेम है; शरीर नहीं हैं। वैसे तो लोग 'मैं' माने ब्रह्म कह देते हैं, ब्रह्म को 'मैं' कह देते हैं। यह उपासना की एक पद्धति है। लेकिन वास्तव में 'मैं' का जो नित्य-सम्बन्ध है वह योग, बोध और प्रेम से है। बोध, प्रेम और योग—इसके द्वारा हम उस जीवन को प्राप्त करते हैं जिसमें किसी प्रकार की कमी नहीं है, जिसमें किसी प्रकार का अभाव नहीं है, जिसमें किसी प्रकार की जड़ता नहीं है, नीरसता नहीं है। अभाव से, जड़ता से, नीरसता से रहित जीवन हमारा-आपका अपना जीवन है।

तो वह जो अपना जीवन है, उसको हम भूल गये हैं। अलग नहीं हो गये हैं, भूल गये हैं। उस भूल को मिटाने के लिए ही यह बात कही गई कि भाई, पहले तो जगत की सेवा करो, फिर अपनी खोज करो, फिर प्रभु को प्रेम करो। यानी प्रभु के प्रेमी होकर, जगत के सेवक होकर आप अपनी खोज करो। ऐसा बताया गया। अपनी खोज करने के लिए जब प्रयास आरम्भ होगा तो वह प्रयास शरीर के द्वारा नहीं होगा। क्योंकि, शरीर के द्वारा तो सेवा हो सकती है, भोग हो सकता है, तप हो सकता है, खोज नहीं हो सकती। बड़ी विचित्र बात है। शरीर के सहारे को लेकर आप सही काम कर सकते हैं और शरीर के सहारे को लेकर आप तप कर सकते हैं, लेकिन शरीर के सहारे को लेकर आप अपनी खोज नहीं कर सकते हैं। इसलिये शरीर का सहारा छोड़कर अचाह, अप्रयत्न होकर हम

अपनी खोज कर सकते हैं। खोज क्या कर सकते हैं? जब ह शरीर के साथ मिले नहीं रहते हैं तब हम परमात्मा के समी होते हैं. परमात्मा से एक होते हैं, परमात्मा से अभिन्न होते है उसी समीपता का नाम 'योग' और एकता का नाम 'बोध' औ अभिन्नता का नाम 'प्रेम' है। तो हमको योग, बोध और प्रे की प्राप्ति होती है एवं भोग, मोह और आसक्ति का नाश हो है। जब तक हमको योग प्राप्त नहीं है तब तक भोग की रु में बंधे हुए हैं। और जब तक भोग की रुचि में बंधे हुए हैं त तक मोह और आसक्ति में आबद्ध हैं। यह भाषा समझते आप--मोह और आसक्ति?

तो, अब सोचिये कि आप भोग, मोह और आसक्ति ही रहना चाहते हैं कि योग, बोध और प्रेम को पाना चाहते हैं यह सोचिये। अगर आप योग, बोध और प्रेम को पाना चाह हैं, तो आपको सेवा करनी होगी, अचाह होना पड़ेगा, अप्रयत् होना पड़ेगा। और कोई उपाय नहीं है। सेवा करो, ता अचाह होने की सामर्थ्य आ जाय। अचाह हो जाओ, जिस अप्रयत्न होने की सामर्थ्य आ जाय। यह जरूर आ जाती है अप्रयत्न होने से योग हो जाता है; क्योंकि भोग में तो प्रयत् रहता है। भोग बिना परिश्रम के, बिना पराश्रय के होता क्या? कोई भी भोग हो, पराश्रय और परिश्रम के बिना सकता है क्या? योग में न पराश्रय है, न परिश्रम है। ह आपसे क्या बतायें, आज योग के बड़े-बड़े सेमीनार होते सम्मेलन होते हैं और योग के नाम पर शरीर-विज्ञान औ मनोविज्ञान की कुछ क्रियायें सिखाते हैं, बताते हैं. योग के ना पर! शरीर-विज्ञान योग नहीं है और सच पूछिये तो मनो विज्ञान भी योग नहीं है। क्यों? मनोविज्ञान माने मन

व्यापार, शरीर-विज्ञान माने शरीर का व्यापार। और वह व्यापार जिसमें शरीर का और मन का हित हो। इतनी बात है। लेकिन यह योग नहीं है। योग तो शरीर-विज्ञान, मनो-विज्ञान इन दोनों से परे है। क्योंकि योग जो है वह मनुष्य का अपना जीवन है। योग का डेफीनीशन ( परिभाषा ) यदि मैं करूँ तो–जो हमें उमसे मिला दे जो हमसे अलग नहीं है। अपने में अपने को मिला दे–एक योग का डिफीनीशन यह है। अपने को अपने से मिलाने वाले का नाम योग है। और यह डेफीनीशन आगे चल कर योग के फल के रूप में बताया है। पतंजलि ने जो योगदर्शन लिखा है इसमें योग की परिभाषा की है–चित्त की वृत्तियों का निरोध और फल बताया है कि द्रष्टा अपने स्वरूप में अवस्थित हो जाय। अब मानव-सेवा-संघ ने इस बात को ऐसे बताया। योग का बाह्य रूप बताया, अचाह और अप्रयत्न। अप्रयत्न अर्थात् कोशिश न करना (effortless-ness)। तो न करने की स्थिति को भी योग कहते हैं। लेकिन मैं ऐसा मानता हूँ कि न करने की स्थिति में हमारा उससे योग होता है जो अपना है, अपने में है और अभी है। अविनाशी है, और समर्थ है, इत्यादि। अद्वितीय है, एक ही है। तो योग परमात्मा के साथ होता है–ऐसा मानलो, बोलचाल की भाषा में।

तो परमात्मा के साथ हमारी एकता, समीपता, अभिन्नता हो जाय, इसीके लिए यह जीवन है और संसार के काम आ जाय–इसके लिए जीवन है। तो जग की सेवा अर्थात् संसार के काम आ गये और अपनी खोज अर्थात् संसार से ऊपर उठ गये। अपनी खोज में ऊपर उठते हैं। संसार के साथ मिले नहीं रहते हैं, संसार से अलग हो जाते हैं। और जब संसार से अलग हो जाते हैं तो उनमें प्रेम। यह एक के बाद एक होता है। सेवा अगर

ठीक बन गयी तो संसार से ऊपर उठने की शक्ति आ गयी और संसार से ऊपर उठ गए तो प्रेमी होने की शक्ति आ गयी। वैसे तो ये तोनो चीजें मिलकर एक जीवन है। जग की सेवा, खोज अपनी, प्रेम उनसे–ये तीनों मिलकर एक जीवन है, एक लाइफ (Life) है।

मैं यह निवेदन कर रहा था आपसे कि क्या आज हम सेवा करने के लिये राजी हैं ?अचाह होने के लिए राजी हैं ? अप्रयत्न होने के लिए राजी हैं ? प्रेमी होने के लिये राजी हैं ? अगर आप इन तीनों के लिये राजी हैं तो आप बड़ी सुगमता-पूर्वक सेवा कर सकते हैं, अपनी खोज भी कर सकते हैं, और प्रेमी भी हो सकते हैं। इसमें आप पराधीन नहीं हैं। हर भाई, हर बहन, सेवा करने में, अपनी खोज करने में और प्रेमी होने में पराधीन नहीं है। और भोग करने में और मोह में और आसक्ति में कोई स्वाधीन नहीं है।

**प्रश्न**–स्वामी जी ! सेवा से अभिमान पैदा होता है।

**उत्तर**—बेवकूफों को पैदा होता है अभिमान। जब सेवा-सामग्री अपनी नहीं तो अभिमान किस बात का होगा ? मैं आपसे निवेदन करना चाहता हूँ कि जिन वस्तुओं द्वारा हम भलाई करते हैं वे वस्तुएँ आपकी हैं क्या ? तो अभिमान कैसे कर सकते हो ? अगर अपनी मान लो तो यह भूल है और भूल से सेवा नहीं बनता है। पहले अपने जीवन को देखिये कि आप लोगों ने सेवा की नहीं, आपसे सेवा हुई नहीं। अगर सेवा हो गयी होती तो त्याग और प्रेम अपने आप आ जाता। ऐसा नियम है। जहां सेवा है वहाँ त्याग जरूर है और जहाँ त्याग है वहाँ प्रेम अवश्य है। इन तीनों में विभाजन नहीं हो सकता।

कि सेवा अलग चीज़ है, त्याग अलग चीज़ है और प्रेम अलग चीज़ है—ऐसा नहीं होता। आपके जीवन के ये तीन आधार—भूत स्तम्भ हैं। सेवा करोगे तो त्याग का बल आ जायेगा, त्याग करोगे तो प्रेम अवश्य आ जायेगा। त्याग का दूसरा नाम ज्ञान भी है, प्रेम भी है। उस ज्ञान-प्रेम में कोई विभाजन नहीं। परन्तु वह अलग विषय है। तो मैं जो आपसे अभी निवेदन कर रहा था कि सेवा बिना किये आप अपनी खोज नहीं कर सकोगे और अपनी खोज किये बिना अपने में अपने प्रेमास्पद को नहीं पा सकोगे। इसलिये ये तीनों बातें बताई गईं। जग की सेवा को कब बताया गया? कि जब आपके सामने यह बात पहले रख दी गयी कि—"मैं नहीं, मेरा नहीं।" ये शरीर 'मैं' नहीं हूँ, ये शरीर 'मेरा' नहीं है। ये तन किसी का है दिया, और जो भी अपने पास है वो धन किसी का है दिया। अर्थात् पहले ज्ञान-पूर्वक यह अनुभव करो कि शरीर मेरा नहीं और मैं शरीर नहीं हूँ। जो कुछ मुझे अपने पास मालूम होता है वह किसी का दिया हुआ है। देने वाले की इतनी महानता है, उसने इस महानता के साथ दिया है कि लेने वाला उसे अपना महसूस करने लगा। कहने लगा कि यह मेरा ही है और जो मिला है वह हमेशा पास रह सकता नहीं। और कब बिछुड़ जाये ये राज़ कोई कह सकता है नहीं-ऐसा कुछ है।

मिला हुआ पास नहीं रहेगा, बिछुड़ जायेगा। अगर यह सच्ची बात पहले मान लेंगे तो उसके बाद कहा कि जग की सेवा, खोज अपनी, प्रेम उनसे कीजिये। तो पहली बातों को भूलने से ही न आपको अभिमान होगा, भाई? अगर आप ये मान लेंगे कि तन मेरा नहीं है तो तन के द्वारा की हुई सेवा से अभिमान कैसे हो जायेगा? धन मेरा नहीं है तो धन के द्वारा

की हुई सेवा का अभिमान कैसे हो जायेगा ? योग्यता, वस्तु और सामर्थ्य मेरी नहीं है तो उनके द्वारा सेवा करने का अभिमान कैसे हो जायेगा ? तो सेवा करने से अभिमान नहीं होता है, तप करने में अभिमान होता है। कर्म करने में अभिमान होता है। पुण्य-कर्म करने में अभिमान हो सकता है, क्योंकि कर्म का जन्म भूल से होता है, सेवा का जन्म भूल-रहित होने से होता है। इसलिये सेवा का अभिमान नहीं होना चाहिये और सेवा का अन्त त्याग में और त्याग का अन्त प्रेम में हो जाना चाहिये। अथवा यों कहिए कि सेवा का अन्त योग में और योग की पूर्णता बोध में और बोध की पूर्णता प्रेम में होनी ही चाहिये।

# २

# (ब)

(१) तन का प्रभाव मोह के, धन का प्रभाव लोभ के, और परिस्थितियों का प्रभाव कामनाओं के रूप में मनुष्य में उत्पन्न हो जाता है।

(२) सत्संग के द्वारा इस प्रभाव का नाश कर देना मानव का सबसे बड़ा पुरुषार्थ है।

(३) साधक के लिए श्रम और विश्राम दोनों ही अनिवार्य हैं। श्रम का अर्थ है आवश्यक कार्य सर्व-हितकारी भाव से पूरा करना और विश्राम का अर्थ है अचाह, अकिंचन और अप्रयत्न होना।

(४) श्रम है संसार के लिए और विश्राम है मानव जीवन की पूर्णता के लिए।

**प्रवचन :**

जबसे मनुष्य को शरीर मिला है तबसे उसमें कुछ-न-कुछ करने की रुचि रहती है। करने की रुचि के राग की निवृत्ति करने लिये कुछ करना होता है; एक बात। दूसरी बात यह है कि सत् शब्द का अर्थ है–जिसका कभी नाश न हो। जिसका कभी नाश नहीं होता उसकी कभी उत्पत्ति भी तो नहीं होती ! क्या राय है ? और उसमें परिवर्तन भी नहीं होता। अब हमें यह देखना चाहिये की जीवन का सत्य क्या है ? तो साफ मालूम होता है कि मिला हुआ शरीर, मिली हुई वस्तु, मिली हुई योग्यता, मिली हुई सामर्थ्य ये सदैव नहीं रहतीं। जो चीज सदैव नहीं रहती उसको अपने लिए पसन्द नहीं करना चाहिये, वरन् उसका सदुपयोग करना चाहिए।

असत् वस्तु का सदुपयोग करना चाहिये। सदुपयोग का अर्थ क्या है ? कि हम परहित की दृष्टि से यदि कुछ कर सकते हैं तो करें और अपने सुख के भाव से कुछ करना चाहते हैं तो न करें। असत्-कार्य कौन-सा कहलाता है ? जिसके मूल में अपने सुख का भोग रहता है। सत्-कार्य कौन-सा कहलाता है ? जिसके मूल में परहित रहता है परहित के भाव से की हुई प्रवृत्ति सत्-कार्य कहलाती है, अपने सुख भोग की रुचि से की हुई प्रवृत्ति असत्-कार्य कहलाती है।

तात्पर्य कहने का यह है कि हम सुख का भोग न करें। अगर हम सुख का भोग नहीं करेंगे, तो दुःख से छूट जायेंगे।

अब दुःख से छूटने के लिए कोई श्रम-साध्य उपाय अपेक्षित नहीं हुआ। केवल सुख का भोग न करें। क्यों भाई, क्या हानि है सुख-भोग से ? क्योंकि सुख-भोग हमें पराधीनता में आवद्ध करता है। और जब हम पराधीनता में आबद्ध हो जाते हैं तो अनेक प्रकार के अभाव, अशान्ति और नीरसता आने लगती है। क्यों आने लगती है ? कि पराश्रय और परिश्रम द्वारा हमें कभी भी ऐसा जीवन नहीं मिल सकता या नहीं मिला है कि जिसका कभी नाश न हो। अगर हम उस वस्तु, योग्यता, सामर्थ्य का उपयोग पर-सेवा में करें, तो सेवा का अन्त हमेशा त्याग में होता है परन्तु भोग का अन्त त्याग में नहीं होना, त्याग का अर्थ यह है कि जो अपने से भिन्न है, उसकी हमको अपेक्षा न रहे। हम अपने में अपने जीवन का अनुभव करें। हम अपने में अपने प्रेमास्पद को पा जाएँ। अपने में जीवन पा जाएँ, प्रेमास्पद को पा जाएँ। यह मनुष्य की एक मौलिक मांग है। क्योंकि जो अपने में होगा वह कभी अपने से अलग नहीं होगा; अर्थात् ऐसा योग जो वियोग से रहित है, अगर हमको प्राप्त हो जाय तो हम बड़ी सुगमता पूर्वक अमर जीवन से, स्वाधीन जीवन से, रस-रूप जीवन से अभिन्न हो सकते हैं। अव, जिसका वियोग न हो, उसको संयोग कहते हैं क्या ? क्या राय है ! बोलो ?

**श्रोता**–नहीं कहते।

तो संयोग-वियोग से रहित "नित्य योग" हमारी मांग है। यह माँग संयोग की रुचि को नाश करती है; और संयोग है ही। ऐसा मत सोचिये की संयोग को नाश करती है सयोग की रुचि को नाश करती है। तो संयोग का उपयोग है सेवा में। उसका फल है त्याग। त्याग का फल है प्रेम। तो सेवा, त्याग, प्रेम–यह जीवन का सत्य है।

अब सेवा का वास्तविक स्वरूप क्या है ? इस पर यदि हम विचार करें, तो सर्वांश में बुराई-रहित हो जांय, अर्थात् बुराई न करें। तब क्या होगा कि तब हम भले हो जायेंगे और फिर स्वभाव से भलाई होने लगेगी। जब स्वभाव से भलाई होने लगती है तो सृष्टि की ओर से सम्मान मिलने लगता है, आदर मिलने लगता है। हमारी सुविधाएँ दूसरे लोग सोचने लगते हैं। हमारी सुविधा का अर्थ केवल इतना लेना चाहिये कि हमारी भूख समाज की भूख हो जाती है, हमारी प्यास समाज की प्यास हो जाती है। हमारी शारीरिक आवश्यकता हमारी न रहकर समाज उसे अपनी आवश्यकता अनुभव करने लगता है; और हम किसी ऐसी आवश्यकता से जो पराश्रय से पूरी हो, परिश्रम से पूरी हो, मुक्त हो जाते हैं। फिर हम सदा के लिए हरि आश्रय और विश्राम से अभिन्न होते हैं। यानी हरि आश्रय से "हम" अभिन्न होते हैं, विश्राम से "हम" अभिन्न होते हैं और जब हरि आश्रय और विश्राम प्राप्त हो जाता है, तो फिर उसका कभी वियोग नहीं होता। आप विचार करके देखिये, परमात्मा उसे नहीं कहते जिससे हम कभी अलग हो सकें अथवा जो हमसे अलग हो सके। उसका नाम परमात्मा नहीं है। विश्राम उसे नहीं कहते जो स्थाई न हो, अखण्ड न हो। विश्राम भी अखण्ड है, प्रभु का योग भी अखण्ड है, अविनाशी है। तो इससे यह सिद्ध हुआ कि विश्राम से और हरि-आश्रय से जीवन मिलता है और किसी प्रकार जीवन मिलता होगा, इसका हमको भाई अनुभव नहीं है। आप लोगों को अगर किसी अन्य प्रकार से जीवन मिला हो आप बताइये।

अब आप सोचिये कि विश्राम के लिये आवश्यक कार्य करना होगा या नहीं? क्या राय है। आवश्यक कार्य को हम पकड़े

रहें पूरा न करें, तो विश्राम मिलेगा ?

**श्रोता**–जी नहीं।

**स्वामी जी**–कभी नहीं मिलेगा। और आवश्यक कार्य करने में क्या हमें कभी भी असमर्थता का अनुभव होता है ? तो जिस काम में हम असमर्थ नहीं हैं वह कार्य हमारे लिए स्वाभाविक है कि अस्वाभाविक ? मानना पड़ेगा कि स्वाभाविक है। आवश्यक कार्य क्या है ? आवश्यक कार्य उसे कहते हैं कि जिसके करने में आपको कोई कठिनाई अनुभव न हो–उसको आवश्यक कार्य कहते हैं। जैसे, आप विचार करके देखिये, अगर आप में करने की रुचि है और उसकी सामर्थ्य है, तो उसको पूरा करने में आपको क्या उलझन होगी ? हाँ ! एक बात है अगर आप भोग करेंगे, तो आपसे आवश्यक कार्य पूरा नहीं होगा। भोग से क्या होता है कि मनुष्य असमर्थता की ओर और पराधीनता की ओर उत्तरोत्तर बढ़ता जाता है, उत्तरोत्तर ! लेकिन आवश्यक कर्तव्य में, स्वभाव से कार्य के अन्त में विश्राम से अभिन्न होता है। विश्राम हमें अपने प्रेमास्पद से मिला देता है। लेकिन विश्राम की एक बड़ी भारी विचित्रता है कि यदि हमें विश्राम प्राप्त हो जाय तो हम अपने में अपने उस जीवन को पा सकते हैं, जिसका कभी नाश नहीं होता, जिसमें जड़ता नहीं हैं, अपितु चेतना है और जो रस-रूप है। यह विश्राम उसकी प्राप्ति का उपाय है।

आप अपने जीवन को देखकर बताइये कि जब कोई काम आप करते हैं तो उसका आरम्भ न करने की स्थिति से होता है कि करने की स्थिति मे ?

**श्रोता**–न करने से।

**स्वामी जी**–अच्छा ! उसका अन्त किसमें होता है ?

**श्रोता**–न करने में।

तो विश्राम कार्य के आरम्भ से पूर्व भी है और कार्य के अन्त में भी है। जो चीज आदि और अन्त में हो, वह रहती मध्य में भी है, ऐसा विचारशीलों का मत है। अतः विश्राम हम सबको स्वभाव से नित्य-प्राप्त है और विश्राम में जीवन है। पराधीन रह करके विश्राम प्राप्त नहीं होता। अगर आप मेरे किसी संकल्प को पूरा करते हैं तो आपको पराधीनता का अनुभव होता है क्या ?

श्रोता–नहीं

और जब आप अपने संकल्प को पूरा करते हैं तो स्वाधीनता का अनुभव होता है क्या ?

श्रोता–नहीं।

तो पराधीनता कब तक रहती है जब तक हमारा अपना कोई संकल्प है। और पराधीनता का नाश कब होता है कि जब हम किसी दूसरे के उस संकल्प को जिसको पूरा करने में हम असमर्थ नहीं हैं अथवा जो हमारे ज्ञान के विरूद्ध नहीं है, पूरा करते हैं। तो, सामर्थ्य और ज्ञान के अनुसार दूसरों के संकल्प को पूरा करना, यह सेवा कहलाती है। इसी को आवश्यक कार्य कहते हैं। और इसी का अन्त विश्राम है। इस विश्राम में अलौकिक, अनुपम, अद्वितीय, रसरूप, चिन्मय जीवन है। अलौकिक जीवन विश्राम में है और किसी में नहीं है। देखिये, कोई कितना भी गतिशील हो, गति का उद्‌गम और अन्त स्थिरता में होता है। ऐसा नही होता कि गति से गति पैदा हो। होता है क्या ? कार्य के अन्त में स्वभाव से विश्राम प्राप्त होता है। हम जब शान्त होते हैं तो हम स्वाधीन भी होते हैं, अमर भी होते हैं। अमर होते हैं, तो रस-रूप जीवन भी मिलता है। यह सब एक

के बाद एक है ही। इस दृष्टि से यदि हम और आप विचार करें तो हमें विश्राम के लिए आवश्यक कार्य करना चाहिए। अगर उस कार्य के पीछे भगवत्-सम्बन्ध है तो भगवत्-प्रेम मिलेगा। यदि हमने भगवत्-सम्बन्ध स्वीकार नहीं किया और केवल कर्तव्य-बुद्धि से कार्य किया, तो करने के राग की निवृत्ति होकर स्वाधीनता मिलेगी और अगर पर-पीड़ा से पीड़ित होकर कार्य किया, तो विश्राम मिलेगा।

विश्राम, स्वाधीनता और प्रेम,—यह तीनों जीवन के मौलिक तत्व हैं। विश्राम का भी कभी नाश नहीं होता। स्वाधीनता का भी कभी नाश नहीं होता, और प्रेम का भी कभी नाश नहीं होता। अगर यह बात आपको अपना सत्य मालूम हो, जीवन का सत्य मालूम हो, तो आपके हृदय में विश्राम, स्वाधीनता, और प्रेम की मांग होनी चाहिए। और उस मांग की पूर्ति के लिए हमें-आपको आवश्यक श्रम करना चाहिये। लेकिन हम अचाह होकर श्रम करें। किसी कामना को लेकर श्रम न करें। निष्काम होकर श्रम करें। कर्तव्य-बुद्धि से श्रम करें। भगवत्-नाते श्रम करें। इस तरह से जब आप आवश्यक कार्य करते हैं, तो भगवत्-नाते किया हुआ कार्य भगवान की 'पूजा' कहलाता है और विश्राम के लिए किया हुआ कार्य 'कर्तव्य' कहलाता है और स्वाधीनता के लिए किया हुआ कार्य 'साधन' कहलाता है। तो कर्तव्य-पालन करें, पूजा करें, और साधन करें। साधन का अर्थ ही है-असाधन रहित प्रवृत्ति। पूजा का अर्थ ही है-भगवत्-सम्बन्ध से ओत-प्रोत प्रवृत्ति। कर्तव्य का अर्थ ही यह है कि जिसके अन्त में स्वतः चिर-विश्राम अर्थात योग की प्राप्ति हो। योग का पूर्व पक्ष कर्तव्य है, उत्तर पक्ष योग हे। प्रेम का पूर्व पक्ष पूजा है, उत्तर

पक्ष प्रेम है। अगर यह बात आपको ठीक लगे तो आप भगवत्-नाते कर्तव्य करें, जगत के नाते से कर्तव्य करें, अथवा आत्मा के नाते कर्तव्य करें।

ऐसा सोचिये कि जीवन का सत्य क्या होगा? या तो सभी अपने हैं या अपना कोई नहीं है। लेकिन शरीर अपना है. संसार अपना नहीं है—यह भूल होगी। या संसार का मालिक कोई और है और शरीर का मालिक मैं हूं--यह भूल होगी। क्योंकि शरीर और संसार स्वरूप से अविभाज्य हैं, एक हैं। शरीर सर्वकाल में संसार में रहता है। संसार से अलग होकर रह ही नहीं सकता। संसार से अलग उसका अस्तित्व ही नहीं है। अगर यह बात आपके अनुभव में है कि शरीर और संसार अभिन्न हैं, तो फिर आप सभी को अपना मानकर काम करें, आपको प्रेम प्राप्त होगा। यदि संसार को भगवान् मानकर करके काम करेंगे, तो भी प्रेम प्राप्त होगा। और संसार एक इकाई है, इस भाव से काम करेंगे तो भी प्रेम प्राप्त होगा। यह बात अलग है कि यदि आप जगत के अस्तित्व को मानेंगे तो आपको विश्व प्रेम प्राप्त होगा, अपने अस्तित्व को मानेंगे तो आत्म-रति प्राप्त होगी और प्रभु के अस्तित्व को मानेंगे तो प्रभु-प्रेम प्राप्त होगा। और किसी का भी अस्तित्व माने बिना आप रह सकते हैं क्या? बोलना भाई जरा! या तो आप संसार के अस्तित्व को मानेंगे या कहेंगे मैं है या कहेंगे परमात्मा है; अथवा यों कहिये कि जिसका अस्तित्व है वही परमात्मा है। अब जगत कहाँ रहा! अगर तुम जगत के अस्तित्व को मानते हो तो जगत रहा कि परमात्मा रहा?

श्रोता—परमात्मा।

अच्छा ! आप अगर अपने अस्तित्व को मानते हों तो "मैं" रहा कि परमात्मा रहा ? तो जिसका अस्तित्व है, उसी का नाम परमात्मा है। अस्तित्व माने जिसका कभी नाश होता ही नहीं। इस तरह से आपने कभी सोचा होता तो आपको बड़ा आनन्द मालूम होता कि 'अरे जगत! नहीं है परमात्मा है।" "मैं नहीं हूँ, परमात्मा है। परमात्मा ही परमात्मा है और कुछ है ही नहीं, हो सकता ही नहीं, कभी होगा नहीं।" अब बताओ, परमात्मा से दूरी कैसे पैदा करोगे। परन्तु यदि आप परमात्मा के अस्तित्व को ही नहीं मानते हैं तो परमात्मा की प्राप्ति होगी, ? अच्छा, एक बात और सोचिये ! क्या अनेक स्वतंत्र अस्तित्व हो सकते हैं ? अनेक स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं हो सकते। इसलिए आप देखेंगे कि संसार में जो वस्तु जैसी दिखती है, वैसी है नहीं। वैसी है क्या ? वैसी रहती है क्या ? तो जो न हो और न रहे उसको अस्तित्वहीन कहते हैं। इसी बात को हमारे महापुरूषों ने तत्त्व-वेत्ताओं ने, बह्मवित् पुरूषों ने कह दिया–"ब्रह्म है", "ब्रह्महै". "ब्रह्म है।" यह कह दिया। उससे भिन्न कुछ है नही, हो सकता नहीं, कभी होगा नहीं।

एक बात तो बताइये ! जब तक आप ऐसा सोचते हैं कि अमुक वस्तु के द्वारा मुझे आराम मिलेगा, तब तक कभी भी आपको आराम मिलता है क्या ? अमुक वस्तु से मुझे आराम मिलेगा–ऐसा सोचते हैं, परन्तु आराम तो मिलता नही ! तो जो अपने में नहीं है उससे मुझे क्या आराम मिलेगा ! जो अपना नहीं है, उससे मुझे आराम क्या मिलेगा ! मिलता है क्या ?

**श्रोता**–नहीं।

इसलिये आप विश्राम के लिए काम करो। विश्राम

अपने लिए है, कार्य जगत के लिए है। देखिये ! यहाँ एक बात बड़ी गम्भीर और विचारणीय है। विश्राम और आलस्य इन दोनों में बड़ा भेद है। आलसी पुरुष जो होता है, वह उत्तरोत्तर अकर्मण्यता में आबद्ध होता जाता है। और जो अकर्मण्य होता है वह व्यर्थ-चिन्तन में आबद्ध हो जाता है। व्यर्थ-चिंतन उसी में ज्यादा होता है जो अकर्मण्य हो। जो अपने कर्तव्य में लगा है उसके जीवन में व्यर्थ-चिंतन होता नहीं। और जब व्यर्थ-चिंतन नहीं होता है, तब अपने आप सार्थक-चिंतन उदित होता है। चाहे वह जिज्ञासा का रूप धारण करे, चाहे प्रियता का रूप धारण करे, भगवत्-लालसा का रूप धारण करे अथवा तत्व-जिज्ञासा का रूप धारण करले। कब ? जब व्यर्थ-चिंतन नहीं होता है तब! और व्यर्थ-चिंतन कब नहीं होता है ? जब आप श्रमी होते हैं, संयमी होते हैं, विवेकी होते हैं, प्रेमी होते हैं। तब जीवन में अकर्मण्यता नहीं रहती। श्रमी, संयमी, विवेकी और प्रेमी-जब यह चारों बातें आ जाती हैं तब निरभिमानता भी आ जाती है। और जब निरभिमानता आ जाती है, तब समता भी आ जाती है। और जब समता आ जाती है। प्रसन्नता भी आ जाती है। समता है तो प्रसन्नता भी है।

तो, मैं आपसे यह निवेदन कर रहा था कि हमें अकर्मण्य नहीं होना चाहिए। जो कर सकते हैं, जो करना चाहिये वह करके, करने के राग से रहित होकर विश्राम को प्राप्त करें। देखो ! हमारा शरीर से तादात्म्य कब होता है ? जब हम कुछ करते हैं। क्यों भाई ? जब मैं बोलता हूँ तो वाणी से तादात्म्य होता है कि नहीं ? जब आप सुनते हैं तो कानों से तादात्म्य होता है या नहीं ? जब आप सोचते हैं तो मस्तिष्क से

तादात्म्य होता है कि नहीं ? जब देखते हैं तो आँख से तादात्म्य होता है या नहीं। इसलिए सेवा का महत्व बहुत बड़ा है। मानव सेवा संघ की प्रणाली में तो यहाँ तक कहा है कि अगर आप कुछ करने की सोचते ही हैं तो सेवा करने की सोचिये। अगर आपके दिमाग में आता है कि हमें कुछ करना है तो भाई, सेवा कीजिए। नहीं तो अचाह हो जाइये अकिंचन हो जाइये, शरणागत हो जाइये। अगर परमात्मा का अस्तित्व मानते हैं तो शरणागत हो जाइये। अपना अस्तित्व मानते हैं तो अचाह और अकिंचन हो जाइये और जगत का अस्तित्व मानते हैं तो सेवा कीजिये।

जगत का अस्तित्व मानकर अगर आप सेवा नही करेंगे तो विश्राम नही 'मिलेगा। अपना अस्तित्व मानकर अगर आप अचाह, और अकिंचन नहीं होंगे तो विश्राम नहीं मिलेगा। परमात्मा का अस्तित्व मानकर अगर आप शरणागत नहीं होंगे तो विश्राम नहीं मिलेगा। और जब तक विश्राम नहीं मिलेगा तब तक स्वाधीनता और प्रेम का उदय नहीं होगा।

# ३

## (अ)

"मिल हुए" को अपना मानना और जो कुछ नहीं मिला है, उसकी कामना में फँसा हुआ व्यक्ति न संसार के प्रति अपना कर्त्तव्य पालन कर मकता है, न निज स्वरूप का बोध पाता है और न भगवान का भक्त होता है। पन्तु शान्ति, मुक्ति और भक्ति की मांग है। साधक के जीवन का सबसे पहला व्रत यह होना चाहिए कि "मिला हुआ" अपना नहीं है, अपने लिए नहीं है। मिला हुआ जगत की सेवा के लिए है। अपने लिए तो केवल परमात्मा है जो उत्पत्ति—विनाश से परे है।

—०—

**प्रवचन :**

इसलिए सबसे बड़ा व्रत साधक का होना चाहिये कि मिली हुई वस्तु, योग्यता, सामर्थ्य मेरे लिए नहीं है, मेरी नहीं है। किसी की हो पर तुम्हारी नहीं है, तुम्हारे लिए नहीं है ! साधक का जो साध्य है, जिसमें किसी प्रकार का अभाव नहीं है, जिसमें किसी प्रकार की अशान्ति, नीरसता और पराधीनता नहीं है, साधक का ऐसा जो साध्य है वह किसी भी वस्तु, योग्यता, सामर्थ्य से प्राप्त नहीं होता। वस्तु, योग्यता, सामर्थ्य से भोग होता है अथवा सेवा होती है। पर साधक का जो साध्य है उसकी प्राप्ति इससे नहीं होती। तो सेवा होती है कब ? जब इस सत्य को स्वीकार करें कि मिली हुई वस्तु, योग्यता, सामर्थ्य अपने लिए नहीं है। यह कोई आखिरी बात नहीं है, पहली बात है। यहाँ कोई कह सकता है कि भाई, यह बात तो बड़ी कठिन है, बड़ी मुश्किल है। अगर यह कठिन है तो और कोई उपाय ही नहीं है। यह कठिन नहीं है। यह तो हम भ्रमवश कहते हैं कि मिला हुआ हमारा है. हमारे लिए है। वास्तव में हमारा है नहीं, हमारे लिए है नहीं। क्यों ? मिला है, मौजूद नहीं है; बदल रहा है। जो वस्तु जब से मिलती है तभी से बदलती रहती है, ह्रास आरम्भ हो जाता है। उत्पत्ति काल से ही विनाश आरम्भ हो जाता है।

इसलिए, वस्तु-योग्यता-सामर्थ्य कीं स्वतन्त्र-स्थिति नहीं है। तो जिसकी स्वतन्त्र स्थिति नहीं है, वह अपने लिए हो ही नहीं सकती। जरा गौर करना भैया ! जिसकी स्वतन्त्र स्थिति

नहीं है वह अपने लिए हो ही नहीं सकता; क्योंकि हमारी तो स्वतन्त्र स्थिति है। आज तक किसी भी भाई को, किसी भी बहिन को जैसे अपने शरीर की उत्पत्ति का, परिवर्तन का, विनाश का अनुभव होता है, वैसे किसी को "अपनी" उत्पत्ति, परिवर्तन और विनाश का अनुभव नहीं होता। क्यों? क्योंकि "मैं" और "है"-यह अनुत्पन्न हुए तत्व हैं। ये प्रकृति के कार्य नही हैं। यह सृष्टि की वस्तु नहीं हैं, यह सृष्टि से परे हैं। 'मैं' भी और 'है' भी। "मैं" का स्वरूप है-उदारता, स्वाधीनता और प्रेम। यह "मैं" का स्वरूप है। 'मैं' माने उदार। 'मैं' माने स्वाधीन। 'मैं' माने प्रेम। उदारता से 'मैं' जगत के लिए, प्रेम से प्रभु के लिए और स्वाधीनता से अपने लिए उपयोगी होता है। यह "मैं" का स्वरूप है-हमारी बोलचाल की भाषा में। शास्त्रीय भाषा हमको आती नहीं, मालूम नहीं।

तो मैं यह निवेदन कर रहा था कि साधक को सबसे पहला व्रत यह लेना चहिए कि जो कुछ मेरे पास है वह जगत का है अथवा प्रभु का है।

**श्रोता**-महाराज जी! यह सब तो उदात्त गुण हैं?

**स्वामी जी**-गुण नहीं है; स्वरूप है उदारता। देखिए, उदारता रूपी गुण तो वृक्ष में भी होता है। प्रकृति के जो गुण हैं-जैसे ममता युक्त उदारता आदि तो ये तो प्राणी-मात्र में होती है, और पशु-पक्षी में। भी लेकिन उदारता जो स्वरूप है वह साधक का है। यह उदारता, स्वाधीनता और प्रेम जो है यह साधक का अपना स्वरूप है और प्रभु की यह महिमा है; हमारे विश्वास के अनुसार, हमारी में भाषा में।

तो, मैं यह निवेदन कर रहा था कि उदारता कब आती

है जीवन में ? विश्वविद्यालय की डिग्री से नहीं आती। तब आती है जब मनुष्य इस सत्य को स्वीकार करता है कि मिली हुइ वस्तु सामर्थ्य, योग्यता मेरी नहीं है, मेरे लिए नहीं है। तब उसमें ताक़त आती है यह कहने की कि जगत के लिए है; अथात् मुझे जो सामग्री मिली है वह जगत के लिए है। इस प्रकार उसमें उदारता आती है। और परमात्मा अपने लिए है, तो उसमें प्रेम आता है। और मुझे परमात्मा और जगत से कुछ नहीं चाहिए, तब उसमें स्वाधीनता आती है। परमात्मा के मानने का अर्थ यह नहीं है कि हमें उससे कुछ चाहिए। जगत के प्रति उदार होने का अर्थ यह नहीं है कि हमें उससे कुछ चाहिए। इस पर सोचिए गम्भीरता से। उदार को जगत से कुछ नहीं चाहिये, प्रेमी को प्रभु से कुछ नहीं चाहिए। तब उसे स्वाधीनता मिलती है। चाहने वाले को स्वाधींनता नही मिलती। चाहने वाला हमेशा ही पराधीन रहता है।

तो वास्तव में जिसे कुछ नहीं चाहिए, वही उदार है, वहीं प्रेमी है। मानव का अपना निज-स्वरूप है और ब्रह्म की यह महिमा है। कहा जाता है –सुना होगा आपने ईश्वर-वादियों से कि 'परमात्मा परम उदार है, परम स्वतन्त्र हैं, परम प्रेम की निधि हैं।' इस दृष्टि से मानव की परमात्मा के साथ जातीय एकता है, नित्य सम्बन्ध है, आत्मीयता है। हमसे गलती क्या होती है कि हम अपनी रुचि-पूर्ति के लिए जीते हैं, मांग-पूर्ति के लिए नहीं जीते। और जब रुचि-पूर्ति के लिए जीते हैं तो जो हमारी रुचि-पूर्ति में सहायक होताहै वह ज्यादा प्यारा लगता है, जो बाधक होता है वह अप्रिय लगता है। और ऐसे कोई बिरले ही बचे होंगे जिनमें यह बात निकल गई हो, सर्वांश में कि कोई परसनलपन न हो किसी के साथ, नहीं तो परसनलपन जोड़ लेते हैं। अरे और क्या बतायें। हम तो जिन

घरो में भिक्षा मांगने जाते थे, तो कहते थे "स्वामी जी हैं" बोले "स्वामी जी नहीं हैं।" वे समझते थे कि यह साधु तो स्वामी जी हैं, और कोई साधु स्वामी जी नही है। बच्चे कहते, छोटे-छोटे। सीख जाते हैं देख-देख कर, कि अपने स्वामी जी हैं, हमारे सामने वाले बगीचे में रहते हैं, स्वामी जी को रोटी दे दो। तो ऐसा कोई बिरला बचा होगा कि जिसने यह तय किया हो कि मैं परसनलपन किसी से नहीं जोड़ूगा। कोई मीठा बोलता है तो इसीलिए प्यारा लगता है। कोई मान देता है तो प्यारा लगता है। कोई सुविधा देता है तो प्यारा लगता है। बढ़िया-बढ़िया सर्टिफिकेट रखते हैं अपने भीतर हम लोग-किसी के लिए कुछ, किसी के लिए कुछ। यह इसलिए रखते हैं कि अभी तक हम निर्विकल्प नहीं हुए। और निर्विकल्प इसलिए नहीं हुए कि हमने मिली हुई वस्तु, योग्यता, सामर्थ्य को अपने लिए माना है। और जब तक हम अपने लिए मानते रहेंगे, निर्विकल्प हो नहीं सकते। और यह जो मिली हुई वस्तु, योग्यता, सामर्थ्य है, यह धोखा जरूर देगी एक दिन ।सदा तुम्हारे साथ नहीं रह सकती। बिल्कुल धोखा देगी। जब हम किसी साधक से सुनते हैं कि मुझे तो चलने से शान्ति मिलती है तो मैं कहता हूँ कि कांटा लग जाय तब ? मोच आ जाय तब ? वह भी शान्ति है जो मिले और छिन जाय ? कोई कहता है कि हम तो बड़ा अच्छा प्रवचन करते हैं। तो हमको बड़ा मजा आता है। यदि गला बैठ जाय तो ? मजा आता है ? वह शान्ति है क्या, वह मजा है क्या ! जो छिन जाय वह भी मजा !!

तो मैं यह निवेदन कर रहा था आप महानुभावों से, कि जीवन के सत्य को स्वीकार करो। जब तक सत्य को स्वीकार नहीं करोगे तब तक साधक संज्ञा नहीं बनेगी, प्राणी संज्ञा

रहेगी। और भाई किसी के साथ भलाई करना, किसी के साथ बुराई करना–यह तो आप प्राणी-मात्र में देखते हैं। और यह भी देखते हैं कि किसी के साथ भलाई की और बुराई किसी के साथ नहीं की–ऐसा भी देखते हैं। लेकिन अगर आपको भलाई का भास होता है कि मैंने भलाई की, तो असत् का संग आ गया। क्योंकि सत्संग में तो यह बताया गया था कि जिस वस्तु के द्वारा आपने भलाई की, जिस योग्यता और सामर्थ्य द्वारा आपने भलाई की, वह आपकी थी नहीं, है नहीं, हो सकती नहीं। क्या भलाई की ? क्या राय है ? परन्तु ऐसा लोगों को लगता है कि हमने भलाई की। तो यह भी साधक के लिए कलंक है कि उसने भलाई की। और बुराई करने का तो कोई प्रश्न ही नहीं है। अतः जब तक हम अपने सत्य को स्वीकार नही करेंगे, कितना ही सत्यकार्य करलें, कितनी ही सत्-चर्चा करलें, कितना ही सत्-चिन्तन करलें, सही अर्थों में हमारी साधक संज्ञा सिद्ध नहीं होगी। सिद्ध संज्ञा तो जाने दो, साधक संज्ञा ही सिद्ध नहीं होगी। वैसे तो सत्-चर्चा, सत्-चिन्तन और सत्कार्य–ये करने वाली बातें हैं, सहायक हैं। लेकिन भाई, किस बात के लिए सहायक हैं, कि हमने सत् को स्वीकार किया या नहीं !

मैं आपसे पूछता हूँ, विचार तो कीजिए धीरज से कि जब मिली हुई वस्तु, योग्यता, सामर्थ्य ही मेरी नहीं तो मैंने किसकी सेवा की ? अच्छा, जब यह सब-कुछ मेरा नहीं तो मुझे संसार से क्या चाहिए ? क्या राय है ? यानी अगर मिली हुई शरीर-रूपी वस्तु मेरी नहीं है, योग्यता मेरी नहीं है, सामर्थ्य मेरी नहीं है तो न मैंने किसी की सेवा की, न मुझे किसी से कुछ चाहिए। यही तो इसका गूढ़ार्थ निकलता है। तो भाई

हम बहुत अच्छे हैं। और देखो, कभी-कभी तो मुझे बड़ी हँसी आती है, कभी दुःख भी होता है। लोग कहते हैं–हमें कुछ नहीं चाहिए। क्रोध में तो हम कह देते हैं लेकिन कभी ईमानदारी से सोचा कि कुछ नहीं चाहिए। अरे बाबा! जिसे कुछ नहीं चाहिए वह तो अज्ञातशत्रु है, उसकी महिमा का तो वारापार नहीं हैं। क्रोध में तो हम कह देते हैं कि हमको कुछ नहीं चाहिए।

मैं आपसे बड़ी नम्रता से निवेदन करना चाहता हूँ कि मानव सेवा संघ की प्रणाली के अनुसार मानव-सेवा-संघ संस्था साधकों की है, किसी व्यक्ति की नहीं है। और साधक वही है जो सत्य को स्वीकार करे। बहुत गम्भीरता से सोचना चाहिए। साधक वही है जो सत्य को स्वीकार करे। जो सत्य को स्वीकार नहीं करता, वह साधक नहीं है। सत्कार्य करने पर भी साधक नहीं है, सत्चर्चा करने पर भी साधक नहीं है, सत्चिन्तन करने पर भी साधक नहीं है। क्योंकि आंशिक असत् रहेगा। जब तक सर्वांश में साधक सिद्ध नहीं होंगे। और साधक सिद्ध नहीं होंगे तो साधन-निष्ठ कैसे होंगे? साधक ही न साधन-निष्ठ होता है, कोई प्राणी साधन-निष्ठ होता है क्या? प्राणी कोई साधन-निष्ठ नहीं होता, साधक साधन-निष्ठ होता है।

इसलिए महानुभाव, अगर यह आपको जंच जाय, रुच जाय, पसन्द आ जाय, तो जरा इस पर अपने द्वारा अपने सम्बन्ध में विचार कर लीजिए। मैं अपने द्वारा अपने सम्बन्ध में कर लूं, आप भी अपने द्वारा अपने सम्बन्ध में कर लीजिए। क्या सचमुच मैंने ईमानदारी से इस सत्य को स्वीकार कर लिया कि

संसार में मेरा कुछ नहीं है ? बहुत साधारण बात है, पहली बात है। और जब यह स्वीकार कर लिया कि मेरा कुछ नहीं है तो अचाह हो गये और जब अचाह हो गये तब आ–हा–हा–! तब चित्त शुद्ध और शान्त हो गया। जब चित्त शुद्ध ओर शान्त हो गया, तब आवश्यक संकल्प पूरे होकर मिटते जा रहे हैं, अनावश्यक पैदा ही नहीं होते। जिसके आवश्यक संकल्प पूरे हो-हो कर मिट रहे हैं और अनावश्यक पैदा नहीं होते तब समझो कि चित्त शुद्ध हो गया, नहीं तो मानसिक रोग है। मानसिक रोग एक प्रकार का थोड़े ही होता है, अनन्त प्रकार का होता है, अब अपने-अपने द्वारा अपनी-अपनी दशा देखें कि हमारे आवश्यक संकल्प अपने आप पूरे हो जाते हैं कि नहीं और अनावश्यक नाश हो गये कि नहीं। जिसके अनावश्यक संकल्प पूरे होते हैं, उसका लेना भी देना हो जाता है। जैसे, हर एक शरीर-धारी को भूख लगती है। तो सबसे बढ़िया भोजन वह करता है जिसमें खिलाने वाले को हर्ष होता है। कोई हर्षपूर्वक हमको खिलाता है वह बढ़िया भोजन होता है। और हर्षपूर्वक कब खिलाता है ? जब कोई हममें देखता है–क्या ? स्वाधीनता जब स्वाधीनता देखता है हममें। स्वाधीन मानव को आदरपूर्वक भोजन मिलता है, पराधीन को नहीं।

आ-हा-हा एक समय था जब हममें एक बाहरी धारणा बन गयी थी–भ्रमात्मक। वह क्या बन गयी थी कि जो साधु बिल्कुल जंगल में रहता है, कम सामान रखता है, पैदल चलता है, मांग कर खाता है वह महान विरक्त होता है–यह धारणा बन गई थी हमारी। यह भी भ्रमात्मक धारणा थी बाहरी दृष्टि से। इसका पता हमको कैसे चला ? क्योंकि हमारी तो धारणा ही थी। हमको बचपन से ही दूसरों के काम आने में मजा आता

था । था वह अपना ही भोग, वह महात्मापन नहीं था । बचपन की आदत थी । जब हमारे गाँव में चिट्ठी-रशा (डाकिया) आये तो हम उसके पीछे-पीछे घूमते रहते, क्योंकि निरक्षर-भट्टाचार्य हम ही थे थोड़े से पढ़े-लिखे वहाँ। बचपन की, बहुत बचपन की बात है, छोटी उम्र की। तो क्यों डोलते थे कि किसी को चिट्ठी आये और वह कहे–सुना देना लाला जरा ! बड़ा मजा आता था लाला को। यह आदत थी हमारी बचपन की। पहले जन्म की कोई कमाई रही होगी, इस जन्म में तो की नहीं। और उस आदत के अनुसार जब बाबाजी बन गये तो विरक्त बाबा लोगों को खिलाने का शौक पैदा हो गया । तो हमारे परिचित थे एक फतेहगढ़ के, गार्ड थे। वह आये तो हमने कहा-देखो ! भोजन कराते हो महात्माओं को तो विरक्तों के लिए ले चलो बनाकर । हमने कहा देखो भाई ! रोटी-दाल, चावल, सब्जी, दही सब ले चलो। और भैया वैसे तो वे लोग बैठ कर खायेंगे नहीं, चलो उस रास्ते पर चलो जिधर से वे लौट कर आते हैं। ऋषिकेश में, हरिद्वार में विरक्तों की जगह बनी हुई है। इलाहाबाद में भी बनी हुई है; मकान नहीं, एरिया (area)। तो जिस एरिया में वे रहते थे, तो जब आने लगे, थोड़ी दूर आबादी रह गई। वह गार्ड हाथ जोड़ कर खड़ा हो गया । भिक्षा देने लगा तो महात्मा लोग बोले–हम नहीं लेंगे। हमने कहा महाराज! आखिर तो भिक्षा लेंगे ही थोड़ा-थोड़ा ही ले लो। तब तक उनमें से एक साधु कहता है कि "हमारी वहाँ लस्सी रखी होगी।" अरे! हमने कहा कि कोपीनधारियों को लस्सी की याद रहती है। (श्रोताओं में हास्य की लहर) । यह हँसी की बात नहीं, दुःख की बात है । मैंने कहा–"दही हमारे साथ है कृपानाथ, आप ले लो।" तो मैं यह बात उन महात्माओं के विरोध में नहीं कह रहा हूँ। मैं तो इस उदाहरण से आपको यह

समझाना चाहता हूँ कि बाहरी रूपरेखा से आप महात्मा नहीं हो जाते। नंगे रहिए तो क्या और झंगा पहनिये तो क्या? जब तक आपने इस सत्य को स्वीकार ही नहीं किया कि 'मेरा करके संसार में कुछ नहीं है'–तब तक आप अचाह हो नहीं सकते। और जब तक अचाह नहीं हो सकते, तब तक आप उदार भी नहीं हो सकते, प्रेमी भी नहीं हो सकते, स्वाधीन भी नहीं हो सकते। और जब तक उदार नहीं हैं, स्वाधीन नहीं हैं, प्रेमी नहीं हैं, तब तक आप महात्मा नहीं हैं चाहे कितना ही बढ़िया व्याख्यान हम दे लें। व्याख्यान देने से महात्मा नहीं हो जाते।

तो, मै आपसे बड़ी नम्रता के साथ यह निवेदन करना चाहता हूँ कि आज बड़ी गम्भीरता पूर्वक हर भाई को, हर बहन को इस बात पर विचार करना चाहिए कि क्या सचमुच संसार मे मेरा करके कुछ है ! यह विचार करना चाहिए और अगर आपको यह अपने ही ज्ञान से मालूम हो कि कुछ नहीं है। कभी-कभी लगे कि शायद है। जैसे–लगे कि शरीर तो हमारा ही है। तो हम पूछेंगे कब तक ? सदा के लिए है ? क्या राय है ? मिला हुआ शरीर किसी के पास सदा के लिए है ?

**श्रोता**–नहीं।

तो जो सदा के लिए नहीं है वह अपने लिए नहीं है। जो सदैव नहीं है, सो अपना नहीं है। जो अपने में नहीं हैं, सो अपना नही है। हाँ "कोई" है–हम सबका अपना, सबका है। उसी को मैंने भगवान करके, परमात्मा करके स्वीकार किया है। जो सभी का अपना है, जो सदा के लिए अपना है, जिससे कभी वियोग हो ही नहीं सकता। तो वह जो हमारा अपना है, वह सृष्टि का आधार हो सकता है। सृष्टि का प्रकाशक हो सकता

है। किन्तु सृष्टि की उत्पन्न हुई वस्तु नहीं हो सकता! आ-हा-हा-हा- ! परमात्मा उसे नहीं कहते जो सृष्टि से उत्पन्न हो। परमात्मा में देह-देही विभाजन नहीं होता। सृष्टि कहते हैं किसको ? जिसका कोई आधार हो। परमात्मा का कोई आधार नहीं है। वह तो स्वयं ही सर्वाधार है। उसका कोई आधार नहीं है। वह सर्व का आधार है, वही सर्व का प्रकाशक है। सर्व का साक्षी है। इसलिए मैं आपसे यह निवेदन करना चाहता हूँ कि सत्संग तो बहुत ही करते ही रहते हैं हम लोग दिन-रात, अभी कहेंगे कि सत्संग ही हो रहा है। लेकिन भैया, अपनी करके हम लोग वस्तु को मान लेते हैं। आ-हा-हा-! तब कोई जब रुचि-पूर्ति करता है तो कितना प्यारा लगता है और जो रुचि में बाधा डालता है वह दुश्मन मालूम होता है।

इसलिए, हम साधक हैं। हम अपना भ्रम मिटाने के लिए बोल रहे हैं, आपको समझा नहीं रहे हैं, स्वयं समझ रहे हैं कि भैया, हमारा करके कुछ नहीं है। हमें मान लेना चाहिए यह। तब हमें क्या हक है कि हम किसी को कहें कि तुम यहाँ से चले जाओ ! बिल्कुल हक नहीं है, हमें कोई हक नहीं है। हाँ, अगर आपको यह लगता है कि यहाँ साधक नहीं हैं, असाधक लोग हैं और आप हमारा तिरस्कार करना चाहते हैं तो आप कीजिए। आप स्वाधीन हैं। हम क्यों कहें कि मत कीजिये। हम तो नहीं कहते कि मत कीजिए। करिये भाई साहब तिरस्कार ! लेकिन दोस्त इस बात को याद रखना कि अगर तुम सत्य को नहीं मानोगे तो यदि यहाँ शान्ति नहीं है तो कहीं शान्ति नहीं है। शान्ति है सत्य को स्वीकार करने में। शान्ति परिस्थिति-परिवर्तन में नहीं है। फिर भी न जँचे तो भाई मत मानो।

तो, मैं यह निवेदन कर रहा था आप महानुभावों से कि साधक को अपने स्वधर्म अर्थात् सत्य को स्वीकार करने वाली बात को अवश्य मानना चाहिए। और उसके मानने में आप पराधीन नहीं हैं, असमर्थ नहीं है। मानने मात्र से ही आपका काम बन जायेगा। आप विचार करके देखिए, कोई आकर के पैर छूता है। अगर मैं इस बात को जानता हूँ कि पैर मेरा नहीं है तो मुझे मान मालूम होगा क्या? क्यों जी? और यदि मैंने मान लिया कि पैर मेरा है तो, मान में फँसूंगा कि नहीं? ऐसे ही मान लीजिए कि किसी ने पाँच जूते लगा दिये! भाई, दोनों बातें सोच लो। अगर इस बात का मुझे पूरा अनुभव है कि शरीर मेरा नहीं है, और किसी काल में नहीं है, तो मेरा अपमान होगा क्या? बोलो!

**श्रोता**—नहीं होगा।

तो हमको यह जो सम्मान सताता है, अपमान सताता है, इसके मूल में हमारी भूल है कि दूसरे लोग हैं?

**श्रोता**—हमारी भूल है।

अगर हम अपने साथ भूल न करें तो संसार की मजाल है कि हमको दुःखी कर सके! कभी नहीं कर सकता। परन्तु हम अपनी भूल तो मिटाते नहीं, फिर कहते हैं कि इन्होंने हमारा अपमान कर दिया, उन्होंने हमारा अपमान कर दिया। यह कहते रहते हैं। एक महात्मा से किसी ने आकर कहा कि अमुक आदमी तुम्हारी बुराई कर रहा था। महात्मा बोले- 'अच्छा, तुम मेरी बात सुनो। अगर वह शरीर की बुराई कर रहा था तो मैं इसकी कौन सी स्तुति करता हूँ। मैं भी कहता हूँ कि शरीर निन्दनीय है, रोगों का घर है। और अगर वह आत्मा की बुराई कर रहा था तो मेरी क्यों कर रहा था,

अपनी ही कर रहा था। यह समझ में आया न? क्योंकि आत्मा तो दो हैं नहीं, अलग-अलग हैं नहीं। तो शरीर की बुराई कर रहा था तो मैं भी तो कहता हूँ कि शरीर निन्दनीय है, विकारों का घर है। कोई बाकायदा बुराई करता है, कोई बेकायदा करता है। और आत्मा की बुराई करता है तो अपनी ही बुराई करताहै, मेरी क्यों करेगा? इसलिए तुम इस भ्रम में मत पड़ो कि मेरी कोई बुराई कर रहा था। मेरी कोई बुराई नहीं कर रहा था।"

तो, मैं आपसे यह निवेदन करना चाहता हूँ कि ये बातें कब आती हैं जीवन में। जब हम सत्य को स्वीकार करते हैं। और सत्य क्या है? कि अपना करके संसार में कुछ नहीं है। अपने को जगत के प्रति उदार होना है, प्रभु के प्रति प्रेमी होना है। जिसके प्रति उदार होना है, उससे भी कुछ नहीं चाहिए। और जिसके प्रति प्रेमी होना है, उससे भी कुछ नहीं चाहिए। यह साधक का स्वधर्म है, परम पुरुषार्थ है। अगर यह बात जंच जाय, रुच जाय, पसन्द आजाय तो थोड़ा मनन कीजिए इस पर। और जीवन में उतार कर देखिए कि आपको कितना आराम मिलता है। महाराज! जिस वक्त मुझे मालूम हो जाय कि मेरा करके कुछ नहीं है और यह बात जीवन में उतर जाय तो बताओ मृत्यु का भय आयेगा मेरे पास? निन्दा और स्तुति आयेगी? सुख-दुःख आयेगा? हानि-लाभ आयेगा? संयोग-वियोग आयेगा? कोई विकार नहीं आयेगा। लेकिन अगर मैं सत्य को स्वीकार नहीं करूं तो मैं निर्विकार हो सकता हूँ क्या? अगर हम सत्य को स्वीकार नहीं करते हैं तो निर्विकार हो सकते हैं क्या? कभी नहीं हो सकते। इसलिए साधक उसको कहते हैं जो सत्य को स्वीकार करे।

तो मैं यह निवेदन कर रहा था कि साधक के लिए सबसे आवश्यक, मूल्यवान, अनिवार्य क्या है ? यही सत्य है कि 'मेरा कुछ नहीं है'। जब मेरा कुछ नहीं है तो मुझे कुछ नही चाहिए--यह बात अपने आप आ जाएगी। जब ये दोनों बातें आगईं तो यह बात भी आ जाएगी अपने आप कि "प्रभु अपने हैं, अपने में हैं और अभी हैं।" यह निर्विवाद सत्य है।

## ३

## ( ब )

मनुष्य के जीवन में ईश्वर की आवश्यकता क्यों होती है? ईश्वर के बिना अन्य किसी उपाय से संयोग की दासता और वियोग के भय का नाश नहीं होता। मनुष्य की बनावट ही ऐसी है कि वह दासता और भय को पसन्द नहीं करता, अतः उसके जीवन में इस बात की माँग पैदा हो जाती है कि मुझे संयोग-वियोग से रहित नित्य-योग, तत्व-बोध और परम-प्रेम से परिपूर्ण जीवन चाहिए।

प्रस्तुत प्रवचन में मावन जीवन की मौलिक मांग की पूर्ति के बहुत हीं युक्ति-युक्त एवं स्वाभाविक साधनों का विवेचन किया गया है जिसके अनुसार मानव-मात्र स्वाधीनता पूर्वक योग वित्, तत्व-वित् और भगवद् भक्त होकर सदा-सदा के लिए संयोग की दासता और वियोग के भय से मुक्त हो सकता है।

श्री महाराज जी के सिद्धान्त के अनुसार जीवन की मांग की तीव्र जागृति में मांग की पूर्ति स्वतः हो जाती है।

**प्रवचन :**

संयोग-जनित जो सुख होता है उसमें वियोग का भय रहता ही है। एक बार डाक्टर श्रीमाली जी (कालूलाल श्रीमाली) जो आजकल हिन्दू विश्वविद्यालय के वाइस चान्सलर हैं, उस समय उदयपुर में ट्रेनिंग कालेज के प्रिन्सिपल थे। वे अमेरिका से मनोविज्ञान की बड़ी अच्छी डिग्री लेकर आये थे। ऐसा मुझे बताया गया। और लक्ष्मी लाल जी जोशी डी० पी० आई० थे। मैं उनके यहाँ ठहरा हुआ था। तो उनको एक विनोद सूझा। उन्होंने कहा कि आज श्रीमाली जी को बुलाते हैं। वे तो बहुत पढ़े-लिखे हैं, आप बिना पढ़े हैं। तो दोनों की बातचीत करायेंगे। हमने कहा कि अच्छा साहब, बुलाइयेगा। वैसे तो आप समझते हैं कि प्रिन्सिपल और डी० पी० आई०- एक समान पोजीशन के आदमी होते हैं। आपस में मेल-मुलाकात होती ही है। तो वे आगये। कमरे में बैठे हुए थे, भोजन से पहले। भोजन पर बुलाया था- कि आज आप हमारे यहाँ भोजन कीजिए। तो उन्होंने यह प्रश्न रखा हमारे सामने कि "जीवन में ईश्वर की कोई आवश्यकता मालूम नही पड़ती हमें।" यह नहीं कहा कि ईश्वर नहीं है। उन्होंने कहा कि "जीवन में ईश्वर की कोई आवश्यकता मालूम नहीं पड़ती"-यह प्रश्न रखा। तो मैंने कहा 'कि मुझे तो जीवन में ईश्वर ही की आवश्यकता मालूम होती है।' क्योंकि मैं तो दुःख से आगे बढ़ा था और वे सुखी थे। बोले 'कैसे ?' हमने कहा संयोग की दासता और वियोग का भय किसी प्रकार मिट सकता है क्या ? किसी परिस्थिति के आश्रय से, किसी योग्यता के आश्रय से किसी

सामर्थ्य के आश्रय से संयोग की दासता और वियोग का भय मिट सकता है क्या ? कौन कहेगा मिट सकता है ? लोक से अतीत, सृष्टि से परे, ईश्वर की बात कही जाती है। बल्कि ईश्वर की बात के पहिले एक और बात बीच में की जाती है कि–'यह' से परे 'मैं' और 'मैं' से परे 'है' । यानी अध्यात्म जीवन के अन्त में ईश्वरवाद आता है । एक भौतिक जीवन, एक आध्यात्मिक जीवन, एक आस्तिक जीवन । यानी आध्यात्मिक जीवन के अन्त में ईश्वरवाद आता है। तो भौतिक जीवन है--विश्व के साथ अभिन्नता करके उसकी सेवा में रत होकर आत्म-ख्याति पाना । उसके बाद आध्यात्मिक जीवन--अचाह होकर अपने में सन्तुष्ट होना । और उसके बाद आस्तिक जीवन—प्रेमी होकर प्रेमास्पद को पाना ।

तो, मैंने कहा कि मुझे तो ईश्वर ही की आवश्यकता मालूम होती है; वैसे अध्यात्म-जीवन से भी संयोग की दासता और वियोग का भय मिटता है। परन्तु इसमें भी तो एक दृश्य से अतीत के जीवन की बात हुई ! उसका नाम 'मैं' रख लिया । अब, जब ईश्वर मेरी आवश्यकता है तो मैं तो ईश्वर को ही स्वीकार करूंगा न ! यह मैं नहीं कह सकता हूं कि उन्होंने मेरी बात मान ली थी उस समय। यह तो उन्होंने सुना, चुप हो गये । वाद-विवाद तो कुछ था–नहीं । हार-जीत कुछ थी ही नहीं,कुछ सीखना-सिखाना तो था नहीं । एक मैत्री-भाव से बातचीत हो रही थी। फिर हम लोगों ने भोजन किया । बाद में उन्होंने हमें अपने कालेज में बुलाया। जब कालेज में बुलाया तो वे तो चूंकि प्रिन्सिपल थे ट्रेनिंग कालेज के। उन्होंने अपने साथियों से, विद्यार्थियों से यह कहा कि 'आप लोग स्वामी जी से जीवन की समस्याओं पर बातचीत कीजिए।

स्वामी जी ने जीवन का अध्ययन किया है।' तो उनको कुछ अच्छा लगा तभी तो बुलाया मुझे, नहीं तो क्यों बुलाते !

तो, मैं यह निवेदन कर रहा था कि आप कल्पना करें, किसी भी दृश्य की, किसी भी परिस्थिति की, क्या उसमें स्थिति सिद्ध होगी ? हमको बड़े-बड़े मनोराज्य हुए हैं। आजकल तो कोई साधक ऐसा कहने को राजी है नहीं, होते तो सबको होंगे। पर हमको हुए हैं। तो किसी भी मनोराज्य से ऐसा नहीं लगता कि 'अच्छा, जब ऐसा हो जाएगा, तो कोई अभाव नहीं रहेगा।' तो, या तो यह मानो कि हम अभाव में पीड़ित रहने के लिए पैदा हुए हैं संसार में। परन्तु यह मानव संज्ञा तो हुई नहीं। यह तो भोगी संज्ञा हुई। जबकि हमारे सामने भोग के साथ-साथ योग का भी प्रश्न है। योग संसार से सम्बन्ध टूटने से होता है और भोग संसार से सम्बन्ध जोड़ने से होता है। तो संसार का सम्बन्ध तोड़ने में जीवन है या संसार से सम्बन्ध जोड़ने में जीवन है-ये दोनों बातें सामने रखें तो योग की माँग आजाएगी। अब योग से योग की माँग पूरी होती है, इस बात में तो आस्था ही हेतु है, विश्वास ही हेतु है। कैसे पूरी होती हैं ?-भोग की रुचि के नाश होने से। या तो भोग की रुचि का नाश करके योग का अनुभव करो या एक साधक की वाणी में विश्वास करो। योग की माँग क्यों पूरी हो सकती है ?-एक योग वस्तु के द्वारा नहीं होता। वस्तुओं का उसमें सहयोग नहीं है, व्यक्ति का उसमें सहयोग नहीं है, परिस्थिति का उसमें सहयोग नहीं है। बल्कि भोग का बीज जो वासना है, उसके त्याग से योग की प्राप्ति होती है। वासनाओं के त्याग से योग की प्राप्ति होती है—यह योग प्राप्ति का एक उपाय बताया गया। यदि कहो कि वासना के त्याग से नहीं होती तो त्याग करके देखो। न हो तब कहो कि नहीं

होती है।

अब कोई कहे कि वासना का त्याग बड़ा कठिन है तो मैं कहता हूँ कि वासना की पूर्ति क्या आसान है ? क्या राय है ? वह तो सम्भव ही नहीं है। सभी वासनाएँ हमारी पूरी हो जाएँ, यह तो सम्भव ही नहीं है। वासना की पूर्ति सम्भव नहीं है और वासनाकी निवृत्ति कठिन है।तो असम्भव की अपेक्षा कठिन ज्यादा सुगम पड़ी कि नहीं ! एक तरफ तो यह निर्णय हुआ कि यह तो असम्भव है कि सभी वासनाओं की पूर्ति हो जाय। यह सर्वथा असम्भव है, सम्भव ही नहीं है। लेकिन वासनाओं के नाश से योग की प्राप्ति होती है, यह सम्भव है। तो योग की माँग में यह ताकत है कि भोग की वासना छूट जाएगी। हमें वह जीवन मिल सकता है, जिसमें दुःख का प्रवेश नहीं है। हमें वह जीवन मिल सकता है, जिसमें अभाव नहीं है। हमें वह जीवन मिल सकता है, जिसमें नीरसता और जड़ता नहीं है, जिसमें पराधीनता और आसक्ति नहीं है। वह जीवन हमें मिल सकता है। अगर इस बात में हमारी आस्था हो जाए, तो यह आस्था उस जीवन की माँग से भी हो सकती है और दुःख के प्रभाव से भी हो सकती है।

सुख रहेगा नहीं। क्यों ? अपने लिए नहीं है–यों ! इसमें एक बड़ा भारी विज्ञान है। सुख क्यों नही रहता ? क्योंकि अपने लिए नहीं है। क्यों आता है? दूसरों की सेवा कराने के लिए आता है। इसलिए मानव सेवा संघ ने इस बात पर बहुत जोर दिया है कि भाई, देखो ! जिस अंश में तुम सुखी हो उस अंश में अगर सेवा नहीं करोगे तो सुख चला भी जायेगा और एक भयंकर दुःख दे जाएगा। अगर सुख-काल में सेवा करते रहोगे तो दुःख आएगा ही नहीं। क्योंकि जिसने वस्तु का सुख भोगा

है उसी को न हानि का दुःख होगा ! जिसने व्यक्ति का सुख भोगा है उसी को न वियोग का दुःख होगा ! और जिसने सेवा-भाव से सब काम किया है उसको क्यों दुःख होगा ? क्या राय है ? कभी नहीं होगा। इसलिए सुख अपने लिए नहीं है। यह बात अगर किसी तरह समझ में आजाती और हम स्वीकार कर लेते तो जिस अंश में हम सुखी होते उस अंश में सेवा करते रहते, सुख बांटते रहते। और जैसे-जैसे आप सुख बांटते जाते हैं वैसे-वैसे पर–पीड़ा से हृदय करुणित होता जाता है। क्योंकि सुख इतना कम है और दुःख इतना अधिक है कि उसकी ( दुःख की ) निवृत्ति तो होती ही नहीं कभी। होती है क्या ? सुख है थोड़ी मात्रा में और दुःख है ज्यादा मात्रा में। निवृत्ति इसलिए होती नहीं। और हर सुख का भोगी विवश होकर दुःख भोगने लगता है। भोगना पड़ता है उसे। अगर हम सुख भोगना पसन्द भी करें तो विवश होकर दुःख भोगना पड़ेगा। देखिए, सुख के भोग के आरम्भ में भी दुःख होता है। जैसे–अभी किसी को भूख लगी है तो पहले भूख लगने का दुःख होगा या पहले भोजन का सुख मिलेगा ? पहले दुःख हुआ न ! तो भूख का दुःख हुआ और फिर कहीं रुचिकर भोजन मिल गया। और खिलाने वाले में बड़ा प्यार हुआ और कहीं दावत के रूप में मिल गया, बिना पैसे खर्च किए तो और भी अच्छा लगता है। तो इस तरह से भोजन करने में हमने सुख भोगा, शरीर की सेवा नहीं की कि भाई, भूख की निवृत्ति होजाय, शरीर का हित हो। संयम के साथ, विचार के साथ भोजन नहीं किया, सुख-भाव को लेकर भोजन किया। तो एक तो खाते-खाते खाने की शक्ति का ही ह्रास हो जायेगा और फिर भोग-सामग्री का भी विनाश हो जायेगा। और अन्त में किसी-न-किसी प्रकार

का रोग आजायेगा। अब आप देखिए कि सुख भोगने का परिणाम क्या हुआ। कितना दु:ख हुआ। आरम्भ में दु:ख था, फिर अन्त में दु:ख हो गया, परिणाम में दु:ख हो गया। अर्थात् दु:ख ही दु:ख रहा।

तो हर सुख का भोग एक भयंकर दु:ख में आबद्ध करता है—यह बात अगर समझ में आजाय हमारे–और सुख-भोग से अरुचि हो जाय और जिसको सर्व—दु:खों की निवृत्ति कहते हैं अथवा जिसको परमानन्द की प्राप्ति कहते हैं, उसकी माँग जग जाय। यानी दु:खों की अत्यन्त निवृत्ति की माँग हमारी माँग हो जाय, परमानन्द की प्राप्ति की माँग हमारी माँग हो जाय, तो हम बड़ी सुगमता पूर्वक उस जीवन को प्राप्त करलें। क्योंकि वह जीवन, जहाँ दु:खों की अत्यन्त निवृत्ति है, वह किसी परिस्थिति से सम्बन्ध नहीं रखता कि आप ग्रेजुएट हैं, अथवा बे-पढ़ें हैं, आप पैसे वाले हैं कि गरीब हैं, आप उच्च वर्ण में पैदा हुए हैं कि नीच वर्ण में पैदा हुए हैं। आपकी परिस्थिति कैसी है--इससे सम्बन्ध नहीं है उसका। वह तो सभी परिस्थितियों से अतीत है। सभी परिस्थिथियों से अतीत जो होता है, उसकी प्राप्ति कैसे होती है?-परिस्थिति से तादात्म्य टूटने से, परिस्थिति की कामना छूटने से। परिस्थिति से तादात्म्य कैसे टूटेगा ?-परिस्थिति के सदुपयोग करने से। सदुपयोग क्या करोगे ?-सुख में सेवा और दु:ख में त्याग अपनायेंगे। यानि सेवा और त्याग से प्रत्येक परिस्थिति का सदुपयोग हो जायेगा। और किसी प्रकार से परिस्थिति का सदुपयोग हो ही नहीं सकता। सेबा करो तब भी हो जायगा, त्याग करो तब भी हो जायगा। सेवा किस अंश में करें ?-जिस अंश में तुम सुखी हो। त्याग किस अंश में करें ?-जिस अंश में तुम दु:खी हो। यानी अचाह होने

से और दूसरों के काम आने से। अगर बिल्कुल अपनी बोलचाल की भाषा में बोलें तो दूसरों के काम आजाओ और अचाह हो जाओ। आपका परिस्थितियों से अतीत के जीवन में प्रवेश हो जायेगा। अब हम यह नहीं कहते कि हमारे काम आ जाओ। पति बनकर पत्नी के काम आओ। लेकिन फिर पत्नी से अपने लिए आशा मत करो। अचाह हो जाओ। पिता बनकर पुत्र के काम आओ, लेकिन अपने लिए अचाह होजाओ, पुत्र से आशा मत करो। भाई बन कर भाई के काम आओ, भाई से आशा मत करो। व्यक्ति बन कर समाज के काम आओ, समाज से आशा मत करो। शरीर बन कर विश्व के काम आओ, विश्व से आशा मत करो और जीव होकर प्रभु के काम आओ और प्रभु से आशा मत करो।

दूसरों के काम आओ और अचाह हो जाओ। यह बात आपको कैसी मालूम होती है ?

**श्रोता**—बहुत अच्छी।

तो अब सिद्धान्त तो मिल गया। और औषधि का भी पता चल गया, रोग का भी पता चल गया। अब रही आरोग्यता। तो आरोग्यता कैसे प्राप्त होगी ? जब पथ्य-पूर्वक औषधि का सेवन करेंगे तो आरोग्यता प्राप्त हो जाएगी। भलाई का फल नहीं चाहिए, बुराई करनी नहीं है-यह पथ्य होगया। हमें अचाह होना है। असली औषधि है—अचाह होना। काम आना और अचाह होना। प्रवृत्ति काल में दूसरों के काम आयें, निवृत्ति काल में अचाह हो जांय। तो प्रवृत्ति से तो विद्यमान राग की निवृत्ति होगी और अचाह होने से नवीन राग पैदा नहीं होगा। अतः हम सब रागरहित हो जायेंगे, और रागरहित होने से योगवित् हो सकते हैं, आत्मवित् हो सकते हैं, ब्रह्मवित् हो सकते हैं। योग का आनन्द मिल सकता है, आत्मा का आनन्द मिल सकता है, परमात्मा का आनन्द मिल

सकता है—यह जीवन का सत्य है। इसलिए काम आओ। काम आओ और कुछ न चाहो-यही जीवन का ध्रुव सत्य है, अखण्ड सत्य है। इस सत्य को स्वीकार करना ही होगा। अचाह होने से आपको स्वाधीनता मिलेगी, निर्विकारता मिलेगी, जीवन मुक्ति मिलेगी और काम आने से आपको अचाह होने की शक्ति मिलेगी। काम लेने से नवीन चाह पैदा होती है।

वहुत दुःख के साथ यह कहना पड़ता है कि आजकल के साधु-समाज को........क्योंकि हम तो उसी फिरके के आदमी हैं भाई। जब अकेले में साधु-साधु में बात होती है तो उस समय ब्रह्मज्ञान नहीं छंटता। जब उनके सामने कोई गृहस्थी आते हैं तो उस समय ब्रह्मज्ञान छांटते हैं। साधु-साधु में जब बात होती है तो कहेंगे—महाराज ! कहाँ से पधारे, कहाँ से आये, अरे भाई उधर कैसा है, भिक्षा की छाली है कि नहीं, जगह ठीक है कि नहीं, जल कैसा है ? इत्यादि। हमारे ही मन में यह संकल्प उठा था बहुत दिन पहले, कि हमको ऐसी जगह चाहिए जहाँ का जल अच्छा हो। तो पता लगाते-लगाते हमको पता चला कि चम्बल का जल बड़ा अच्छा है। परन्तु जिस बाबाजी ने हमें यह बात वताई उसने कहा कि वहाँ का भोजन तो घोड़े का दाना है। यानी वहाँ के लोग गरीब आदमी हैं, बाजरे की रोटी और कड़ेरी का साग खाते हैं। या गरमी में अरहर की दाल और बाजरे की रोटी खाते हैं कि जौ की रोटी खाते हैं; ऐसा कुछ बताया। यदि उस दिन ही पता चल जाता तो हम वहुत खुश होजाते, क्योंकि बाजरे की रोटी तो हमें बहुत ही अच्छी लगती है, हमने खूब खाई है। तो उसने कहा कि बाजरा की रोटी और अरहर की दाल मिलती है। कोई बात नहीं। उस साल हमें बड़ी विरक्ति चढ़ी थी—पैदल चलते थे, कपड़ा पास नहीं रखते थे, कोई साथी भी नहीं था। इटावा में जाकर

पैर में चोट लग गई और चलना बन्द होगया। भगवान् के सिखाने के अनेक ढंग हैं। तो चलना बन्द हो गया। इत्तिफाक से जहाँ में ठहरा था वहीं पी० डब्लू० डी० के एक ओवरसियर भी ठहरे हुए थे। उनका मकान था किराये का। हमने पूछा– 'कहाँ जाते हैं आप' ? तो उन्होंने बताया कि ऊरी ग्राम जाना पड़ता है। वहाँ हमारा डाक बंगला है, पी० डब्लू० डी० का। हमने पूछा कहाँ है ? बोले—चम्बल के किनारे है। हमने कहा—सुनते हैं कि चम्बल का जल बड़ा बढ़िया है। बोले— 'आप पियें तो मंगवा दूं'। मैंने कहा— यहाँ क्या पियेंगे यार ! बोले–तो चलिए हमारे डाक बगले में ठहर जाइये। हमने कहा—डाक बंगले में तो ठहर जायें आपके, लेकिन चीफ इंजीनीयर आये तो निकालोगे तो नहीं ? बोले–सो तो महाराज, हमारे बस की बात नहीं है। तो मैंने कहा—डाक बंगले में क्या ठहरें यार, वहीं कहीं हमारे लिए गुफा बनवा दो। पूछा- 'कहाँ बनादें ?' मैंने कहा—किनारे पर ही सबसे ऊँची जगह हो, क्योंकि यह तो सोचा नहीं था कि वहाँ से फिर किसी और जगह जाएंगे, हटेंगे-बढ़ेंगे कि क्या करेंगे। तो उसने बनवा दी गुफा। और इधर महीने दो-महीने में पैर चलने लायक होगया। तो उसी बीच में दो आदमी उनसे मिलने आगये, अवारी गाँव के। अब देखो, सारी परिस्थिति बन रही है अपने आप। वे हमको लेगये वहाँ। बड़ा अच्छा लगा। कई साल तक आते जाते रहे। बड़ा अच्छा स्वास्थ्य रहा।

तो मैं आपसे यह निवेदन करना चाहता हूं कि जब मनुष्य खोज में लगता है कि मुझे तो वही जीवन चाहिए जिसको पाकर कुछ और पाना शेष न हो, तो जीवन की मांग ही जीवन से अभिन्न कर देती है। परमात्मा की मांग परमात्मा से मिला

देती है। अत्यन्त दुःख-निवृत्ति की मांग अत्यंत दुःखनिवृत्ति करा देती है। निजानंद की मांग निजानन्द से अभिन्न कर देती है। तो हमारा पुरूषार्थ क्या रहा?-कि हम अपनी वास्तविक मांग का ठीक ठीक अनुभव करें, उससे निराश न हों। यह सबके लिए सुलभ है। यानी जरूरत को महसूस करना और उससे निराश न होना-यह तो सबको सुलभ है। किसी परिस्थिति द्वारा जरूरत को पूरा करना तो सबके लिए सुलभ है नहीं। ये जो आपने कहा कि हमारी आसक्ति क्यों नहीं मिटती है—तो इसलिए नहीं मिटती है कि हमने वास्तविक आवश्यकता का अनुभव नहीं किया या करते और उसमें आस्था नहीं रखते कि यह पूरी हो जाएगी। अव्वल तो अनुभव नहीं करते और अनुभव कर भी लें तो फिर 'अरे भाई ! हम साधारण आदमी की कैसे पूरी हो जायगी। बड़े-बड़े ऋषि-मुनियों की होती होगी। कभी-कभी जन्म-जन्मान्तर में होती होगी'—बहुत से बहाने हैं। ये सब बहाने ही हैं-'हमारे ऐसे संस्कार कहाँ हैं ? हमारे इतने पुण्य कहाँ हैं ? हमारे जीवन में इतना तप कहाँ है ? हमारे जीवन में इतना त्याग कहाँ है।' इस प्रकार के बहाने ढूंढ़ते हैं। हम कहते हैं, परमात्मा तप और त्याग की सीमा में मिलें, तब न ! मांग अनुभव करो, त्याग अपने आप आ जायेगा। मांग अनुभव करने से काम का त्याग हो ही जाता है। और काम का त्याग होने से संसार का सम्बन्ध टूट ही जाता है और संसार का सम्बन्ध टूटने से दुःखों की अत्यन्त निवृत्ति हो जाती है, जीवन-मुक्ति मिल ही जाती है, भगवद्-भक्ति मिल ही जाती है। ऐसा है। इसलिए हमें और आपको थोड़ी-थोड़ी देर के बाद अपने जीवन का अध्ययन करते हुए, अपनी वर्तमान दशा को देखते हुए, 'हमें क्या चाहिए'-यह बात अवश्य अनुभव करनी चाहिए-अपने द्वारा, अपने ढंग से। यह नहीं है कि सबको

हौआ पकड़ा दो कि परमात्मा ही चाहिए। अरे भाई ! परमात्मा शब्द की जरूरत न हो तो किसलिए कहें कि चाहिए ? परन्तु हमें जो चाहिए वह है परमात्मा ही। क्योंकि संसार में बाप और बेटा एक से नहीं देखे गये। देखें हैं क्या ?

श्रोता—नहीं ।

दो सहोदर भाई, दो सहोदर बहने, पति-पत्नी, पिता-पुत्र–यानी घनिष्ठ-से-घनिष्ठ सम्बन्ध में भी विषमता रहती है। एक सी हालत नहीं रहती। बाप कैसा है तो बेटा कैसा ही है, बेटा कैसा है तो बाप कैसा ही है। लेकिन उस जीवन में, जिसमें कि विषमता नहीं है, वह संसार से सम्बन्ध टूटने से प्राप्त होता है। केवल संसार का सम्बन्ध तोड़ने से–और कुछ नहीं। और संसार का सम्बन्ध टूटता है ज्ञान से और सेवा से। जिनसे राग है उनकी सेवा करो और बाकी ज्ञान-पूर्वक अचाह हो जाओ। संसार का सम्बन्ध बल से तो टूटता नहीं है, ज्यादा पढ़ने-लिखने से भी टूटता नहीं है। निज-ज्ञान से टूटता है या सेवा करने से टूटता है। हमने जो देखा है, प्रैक्टीकल रूप से, तो हमें ऐसा लगता है। और भाई, उस जीवन की मांग तो महत्-पुरूषों के सम्पर्क से ज्यादा सबल होती है। क्योंकि हमको भी यह बात किसी के सम्पर्क से ही पैदा हुई थी कि सबसे बड़ा जो सुख है वह उसी को मिलता है जो साधु हो जाता है। हमने 'साधु होना' शब्द सुना था, त्याग-वैराग्य-अनुराग ये सब नहीं सुना था उस वक्त। तो साधुओं के पास जाने लगे। एक साधु मिल गये। उन्होंने कहा भजन किया करो। हमने कहा भजन क्या होता है ? तो कहा, राम-राम कहो। हमने सुन रखे थे आर्य-समाज के लैक्चर। हमने कहा राम-नाम में तो हमारा विश्वास नहीं है। तो वे महात्मा नाराज नहीं हुए। नहीं तो

डांट देते, जैसे हमारा स्वभाव है। बोले—अच्छा ! क्या भैया, तुम्हारा ईश्वर में भी विश्वास नहीं है ? तो ईश्वर शब्द तो सुना था हमने। उसमें तो आस्था थी। हमने कहा ईश्वर में तो है। 'तो फिर क्या बात है भाई ! कोई चिन्ता नहीं। तुम ईश्वर को मानते हो।' हां मानता हूँ। 'तो उसकी शरणागति स्वीकार करलो। यह नहीं कहा उन्होंने कि नाम लो कि ध्यान करो कि मंत्र जपो। नहीं तो हम शायद इन्कार कर देते। तुम उसके हो जाओ, बस। शरणागति का मतलब होता है उनका होजाना। 'हे प्रभु मैं तेरा हूँ' यह पहला स्टेज है शरणागति का। 'तुम मेरे हो'-यह आखिरी स्टेज है। फल है—तुम्हीं हो। शरणागति का फल है—तुम्ही हो। पहली स्टेज में मनुष्य का भय नाश होता है, दूसरे स्टेज में प्रेम उदय होता है। प्रेम ने प्रीतम के सिवा किसी और को देखा ही नही। तो शरणागति का फल है कि प्रभु ही हैं। और कुछ किसी काल में है नहीं, हो सकता नहीं, होगा नहीं। प्रभु ही हैं। 'है' करके प्रभु ही हैं। तो उससे काम चल जाता है भैया।

लेकिन भाई, खुद की जानो नहीं, दूसरे की मानो नहीं। जो जानो उसका आदर न करो, जो सुनो उस पर विश्वास न करो; जो कर सको उससे अपने को बचाते रहो-तो काम बनेगा ?

श्रोता—जी, नहीं बनेगा।

जो कर सकते हो उसे पूरी शक्ति लगाकर करना पड़ेगा, ईमानदारी से। जो जानते हो उसका आदर करना पड़ेगा। जो मानते हो उसमें विश्वास करना पड़ेगा। और ये तीनों प्रकार की शक्तियां हैं आपके पास। करने की है, जानने की है और मानने की है। इन्हीं शक्तियों के द्वारा हम सबको वह जीवन कि जिसकी प्राप्ति के बाद और कुछ पाना शेष नहीं रहता, मिल सकता है। यानी देखिए, जानने की शक्ति

बताई ज्ञान, मानने की विश्वास और करने की परिस्थिति के अनुसार। तो किसी अंश में बल है कि नहीं सभी के पास ? और विश्वास ? और ज्ञान ? तो बल के सदुपयोग से, ज्ञान के आदर से और विश्वास से भाई, वह जीवन मिल सकता है। इसलिए हम सबको वह जीवन मिल सकता है। मानव-सेवा-संघ की सबसे बड़ी देन यही है कि उसने यह कहा है कि जो सबसे ऊँचा जीवन है वह सबको मिल सकता है, उससे निराश नहीं होना चाहिए। उससे भिन्न क्या मिल सकता है ? पता लगाते रहो। हम तो समझते हैं कुछ भी नहीं मिल सकता। जिसको सबसे ऊँचा जीवन नहीं चाहिए, उसको तो कुछ मिल नहीं सकता। क्यों ? सुख आयेगा दुःख दे जायेगा। दुःख आयेगा पराधीन कर जायगा। तो अभाव से पीड़ित रहना, पराधीनता में आबद्ध रहना, नीरसता से पीड़ित रहना—यह तो मिलना नहीं हुआ न ! अगर आप सबसे ऊँचे जीवन की आवश्यकता अनुभव करें भाई ! बड़ी सुन्दर बात है यह, हमारी समझ से साधक के लिए, सबसे ऊँचा जीवन ! तो सबसे ऊँचा जीवन कौनसा होता है ? जिसका कभी नाश न हो और जो सभी के लिए उपयोगी हो। तो योग का भी नाश नहीं होता, बोध का भी नाश नही होता, प्रेम का भी नाश नहीं होता। तो योग, बोध, प्रेम चाहिए। लेकिन मिला क्या है ? बोलो—भोग, मोह और आसक्ति। हम फँसे किसमें हैं ?—भोग में, मोह में और आसक्ति में। चाहिए क्या ?—योग बोध और प्रेम।

तो भोग, मोह और आसक्ति की निवृत्ति और योग, बोध और प्रेम की प्राप्ति हो सकती है। कैसे हो सकती है ?—कि योग की माँग से। योग की मांग से भोग की रुचि नाश होती

है। भोग की रुचि नाश होने से, भोग-वासनाओं के नाश होने से योग प्राप्त होता है। और जब योग प्राप्त होता है तो उसमें बोध और प्रेम रहता ही है। जैसे भोग में मोह और आसक्ति रहती है। पहले आसक्ति थोड़े ही प्राप्त होती है, पहले मोह थोड़े ही प्राप्त होता है। पहले भोग प्राप्त होता है। क्या राय है? तो भोग का परिणाम है मोह और आसक्ति, कि मोह और आसक्ति कोई अलग, स्वतन्त्र चीज है।

श्रोता—परिणाम है भोग का।

तो जैसे भोग का परिणाम मोह और आसक्ति है वैसे योग का परिणाम बोध और प्रेम है, ऐसा नियम है। इसलिए हम सबको योग प्राप्त करना चाहिए।

# ४

## ( अ )

मानव-जीवन पर विचार करने से ऐसा लगता है कि हमारा सम्बन्ध संसार से भी है और परमात्मा से भी है। शरीर की आवश्यकतायें संसार की सहायता से पूरी होती हैं और अपने में चिन्मय-रसरूप जीवन की जो मांग है, उसकी पूर्ति परमात्मा से होती है। इस दृष्टि से मनुष्य को संसार और परमात्मा दोनों ही के प्रति साधन-युक्त दृष्टि रखनी चाहिए।

प्रस्तुत सन्तवाणी में यह बताया गया कि यदि साधक शरीर छोड़ दे संसार की मर्जी पर, अर्थात् संसार की सेवा करते हुए संसार से कुछ लेने का संकल्प न रखे तो शरीर की सारी आवश्यकताएँ समष्टि शक्ति के द्वारा पूरी हो जायेंगी। इसी प्रकार अपने को परमात्मा की जाति का मान कर उसी की शरणागति स्वीकार करके अपना सब संकल्प छोड़ कर अपने को परमात्मा की मर्जी के अधीन कर दे तो इससे चिन्मय-रस रूप जीवन मिल जायेगा।

प्रवचन :

## "अपने को प्रभु की मर्जी पर छोड़ो और शरीर को संसार की मर्जी पर छोड़ो"

अगर हम शरीर को जगत की मर्जी पर छोड़ दें और अपने को प्रभु की मर्जी पर तो जीवन की जितनी समस्याएँ हैं वे सब हल हो सकती हैं। हमसे भूल यह होती है कि हम शरीर को जगत की मर्जी पर नहीं छोड़ते, अपनी मर्जी पर रखते हैं और अपने को प्रभु मर्जी पर नहीं छोड़ते। अगर हम शरीर को संसार की मर्जी पर छोड़ दें तो शरीर की जितनी आवश्यकताएं हैं, उनका चिन्तन हमको नहीं होगा और अपने को अगर प्रभु की मर्जी पर छोड़ दें, तो किसी प्रकार का भय और प्रलोभन नहीं रहेगा। परन्तु सही अर्थ में हम इस बात को स्वीकार नहीं करते कि जगत उदार है और प्रभु करुणा-सागर हैं। अगर हमें प्रभु की करुणा में और जगत की उदारता में विश्वास हो जाय तो हम बड़ी सुगमतापूर्वक जीवन को सार्थक बना सकते हैं। मेरा ऐसा विश्वास है कि मनुष्य जितना अच्छा नहीं होता संसार उसको उससे ज्यादा अच्छा समझता है और मनुष्य जितना बुरा हो जाता है उससे कम बुरा समझता है। और प्रभु सदैव पतित से पतित को भी अपनाने के लिए लालायित रहते हैं। अगर यह बात आप लोगों की समझ में आये, इसमें आस्था हो जाय तो इसका अनुभव करके देखिए।

आप विचार कीजिये, सृष्टि का आधार और प्रकाशक

कोई एक है और वह सभी को अपना मानता है। परन्तु उसने मानव को यह स्वाधीनता दी है कि मानव विवेक-विरोधी कर्म न करे, विवेक-विरोधी सम्बन्ध न रखे, और विवेक-विरोधी विश्वास न रखे। विवेक का प्रकाश दिया है मानव को। अन्य किसी प्राणी को दिया है कि नहीं दिया, सुनते तो यह हैं कि नहीं दिया है, किन्तु मानव को दिया है। वैसे तो अगर वह चाहे कि आप बुराई न करें तो क्या कोई बुराई कर सकता है? कोई झूठ बोलना चाहे और प्रकृति का विधान उससे बोलने की शक्ति छीन ले तो झूठ बोल सकेगा?

**श्रोता**—नहीं।

लेकिन ऐसा तो नहीं देखने में आता। हां, स्वयं झूठ नहीं सुनना चाहता। स्वयं दूसरे से सहयोग चाहता है कि समाज मेरी जरूरत को पूरा करे। भूख लगने पर मुझको रोटी दे ही दे। काम के बदले में दे दे अथवा मांगने से दे दे। उदार बनके दे दे या परिश्रम के बदले में दे दे। तो जब हम यह जानते हैं कि हम समाज से शारीरिक आवश्यकता के लिए आशा रखते हैं तो हमारे हृदय में पर-पीड़ा नहीं होनी चाहिए क्या?—होनी चाहिए। जिसके हृदय में पर-पीड़ा होती है, उसको जीवन में सुख-भोग की रुचि नहीं रहती। यह जीवन का सत्य है। आज हम एक शरीर की जरूरत के लिए परेशान रहते हैं। भूख लगने पर रोटी मिलनी ही चाहिए, प्यास लगने पर पानी मिलना ही चाहिए, शीत लगने पर वस्त्र मिलना ही चाहिए। यानी जो जीवन की ऐसी जरूरतें मालूम होती हैं उनको हम पूरा करने के लिए लालायित रहते हैं। लेकिन कहीं समाज हमारी आवश्यकताअनुभव करता है तो वहां हमको

वैराग्य आता है। क्या सच में यह वैराग्य है ? देखो ! दुनिया में बड़ा आदमी कौन होता है ? जो दूसरे की जरूरत को अपनी जरूरत मानता है, जिसके सभी संकल्प प्रभु के संकल्प में अथवा जगत के संकल्प में विलीन हो गये हैं, वह दुनिया का बड़ा आदमी है। क्योंकि उसका अपना संकल्प नहीं है। जिसका अपना कोई संकल्प नहीं है वह प्रत्येक परिस्थिति में चिरशान्ति में वास करता है। और अपना संकल्प रख कर कभी कोई भी शान्ति नहीं पाता। अगर यह बात आपको जंचती हो, रुचती हो तो अनुभव करके देखिए।

हम अपना कोई संकल्प नहीं रखेंगे, अगर यह सामर्थ्य आप में नहीं हैं तो आप कभी भी, कहीं भी, किसी भी प्रकार से शान्ति नहीं पा सकते। क्यों नहीं पा सकते ? क्या कारण है ? क्योंकि अपने संकल्प की पूर्ति के फेर में ही तो हमने जीवन का बहुत बड़ा समय बिताया है; और न जाने कितने जन्मों से भटक रहे हैं। तो अगर आप सजग हैं, मानव हैं, तो अपना संकल्प मत रखिये।

श्रोता—महाराज साधन-रूपी संकल्प भी न रखें ?

स्वामी जी—देखिए, साधन-रूपी संकल्प नहीं होता। संकल्प होता है वह जो वस्तु से सम्बन्ध जोड़ दे। संकल्प होता है वह कि जो व्यक्ति से सम्बन्ध जोड़ दे। संकल्प होता है वहजो परिस्थिति से सम्बन्ध जोड़ दे। साधन की तो जीवन में मांग होती है। साधन क्या है, जरा सोचिये ! साधन क्या तत्व है ? साधन उसे कहते हैं, कि जिसके अपना लेने पर साध्य से दूरी, भेद और भिन्नता न रहे। उसको साधन कहते हैं। साधन साधक की साध्य से दूरी नहीं रहने देता, भेद नहीं रहने देता,

भिन्नता नहीं रहने देता। उसको कहते हैं साधन। और वह साधन जो है वह श्रम-साध्य उपायसे उदय नहीं होता। वह साधन जीवन के सत्य को स्वीकार करने से स्वतः उदय होता है। जैसे, कल्पना करो, अगर आप किसी-न-किसी नाते सभी को अपना मान लें तो जीवन में उदारता आ जायेगी कि नहीं? अगर आप प्रभु को अपना मान लें तो प्रियता आ जायेगी कि नहीं? अगर आप अपना करके कुछ न मानें तो स्वाधीनता आ जायेगी कि नहीं? इसको साधन कहते हैं। उदारता साधन है, स्वाधीनता साधन है, प्रियता साधन है।

आप बिचार करके देखिए, समाज में आदर कौन पाता है? जो आदर के योग्य हो जाता है। और आप जानते हैं जो आदर के योग्य हो जाता है उसमें आदर की वासना नहीं रहती। यह बड़ी भारी कसौटी है। समाज किसको आदर देता है? जो आदर के योग्य है। आदर के योग्य कौन है?—जरा सोचिए तो सही। जिसमें छः बातें हों-योग्य हो, ईमानदार हो, परिश्रमी हो, उदार हो, स्वाधीन हो और प्रेमी हो। जिसमें ये छः बातें होती हैं वह अपनी दृष्टि में आदर के योग्य हो जाता है। जो अपनी दृष्टि में आदर के योग्य हो जाता है वह सबकी दृष्टि में आदर के योग्य हो जाता है। आप ही बताइये, योग्य व्यक्ति किसी को बुरा लगता है क्या?- नहीं। परिश्रमी किसी को बुरा लगता है क्या? ईमानदार किसी को बुरा लगता है क्या? योग्यता, ईमानदारी और परिश्रम से मनुष्य संसार के काम आता है। उदारता, स्वाधीनता और प्रेम से अपने और प्रभु के काम आता है।

योग्यता का अर्थ यह नहीं है कि हमारे पास विद्यालय,

महाविद्यालय अथवा विश्वविद्यालय की डिग्रियाँ हों। योग्यता का अर्थ है कि समाज के किसी भी कार्य के लिए हम उपयोगी हो जाँय। चाहे वह झाड़ू लगाने का कार्य ही क्यों न हो, कपड़ा धोने का कार्य ही क्यों न हो अथवा रोटी पकाने का कार्य हो क्यों न हो ! समाज के किसी भी कार्य के लिए उपयोगी हो जाने का अर्थ है योग्यता।

**श्रोता**—लेकिन अगर उसमें कार्य कुशलता नहीं तो बेकार है।

**स्वामी जी**—सुन तो लो बम्बूनाथ ! पहले योग्यता सुनलो, योग्यता ! जो किसी-न-किसी कार्य के योग्य हो। उसके बाद आता है उसमें परिश्रम और उसके बाद आती है ईमानदारी। तो अगर ईमानदार है, योग्य है और परिश्रमी है तो कार्य कुशल हो ही जायगा। गलती क्या होती है, कार्यकुशल क्यों नहीं होता है कि योग्यता तो है, लेकिन कार्य करने में लापरवाही है, पूरा मन नहीं लगाते। जब आप पूरा मन नहीं लगाते तो क्यों नहीं लगाते ? क्योंकि आपको यह विश्वास नहीं है कि इस काम के बदले में मुझको विश्राम मिलेगा। यह विश्वास ही आपने खो दिया है। अगर आपके अन्दर यह विश्वास हो जाय कि मैं सही काम करूंगा तो मुझे विश्राम मिलेगा और विश्राम मिलेगा तो जीवन मिलेगा और जीवन मिलेगा तो स्वाधीनता और प्रेम भी मिलेगा, तो आप पूरी लगन से कार्य करेंगे। यही कारण है इसका, योग्यता की कमी का कारण नहीं है।

तो काम किया जाता है आराम के लिए और आराम होता है अपने लिए। क्यों ? विश्राम में जीवन है। विश्राम में ज्ञानका प्रकाश

और प्रेम का रस है। इसलिए हमको विश्राम चाहिए। विश्राम किसी परिस्थिति से नहीं मिलता, परिश्रम से मिलता है। अतः हमारा जो परिश्रम हो वह पवित्र भावसे हो, विधिवत हो और लक्ष्य पर दृष्टि रख कर हो तो कार्य कुशलता अपने आप आ जायेगी। अगर हमारे भाव में पवित्रता नहीं है, अगर हम विधिवत कार्य नहीं करते हैं। अगर हम अपने लक्ष्य को भूल जाते हैं तो कार्य कुशलता कैसे आयेगी भाई? कार्य कुशलता कब नहीं आती, जब-सुख लोलुपता होती है और सुख--लोलुपता में एक आलस्य का सुख भी होता है। भोगों का सुख तो होता ही है, एक आलस्य का सुख भी होता है। एक ममता का सुख होता है। और जब किसी व्यक्ति की व्यक्तिगत ममता कुछ नहीं रहती या तो सभी उसके अपने हैं अथवा कोई अपना नहीं है, तो उसका भाव पवित्र हो जाता है। उसमें कार्य-कुशलता आजाती है। वह विधि से काम करता है, क्योंकि अपना सबको प्यारा लगता है न? क्या राय है? बोलिए?

श्रोता—प्यारा लगता है।

अच्छा, अपने प्यारे का काम करने में क्या असावधानी करते देखा है हमने किसी को?

श्रोता : नहीं देखा।

तो हम सभी को अपना नहीं मानते, इसलिए सही काम करना नहीं आता। अथवा हम विवेक-पूर्वक अपना करके किसी भी काल में कुछ है ही नहीं, यह भी नहीं मानते। नहीं तो अचाह न हो जाते! स्वाधीन न हो जाते! अथवा सर्व-समर्थ प्रभु अपने हैं, यह भी नहीं मान पाते। नहीं तो अखण्ड स्मृति नहीं जगेगी! क्यों भैया! अपने की अपने को याद आयेगी कि नहीं? अपना अपने को प्यारा लगेगा कि नहीं? क्या राय है?

श्रोता—लगेगा।

तो प्रभु जिसको प्रिय हैं, प्रभु की स्मृति जिसका जीवन है, मैं आपसे पूछता हूँ कि उसके जीवन में कभी नीरसता आयेगी क्या ? और जब नीरसता नहीं रही तो काम की उत्पत्ति होगी क्या ? और जब काम की उत्पत्ति नहीं होगी तो विकारों का जन्म होगा क्या ? विकारों का जन्म भी नहीं होगा।

इसलिए अगर जीवन में प्रभु का विश्वास हो किसी को, न हो तो मैं नहीं कहता कि करो। विश्वास करना तो आता ही है मनुष्य को। किसी-न-किसी में वह विश्वास करता ही है। लेकिन जो प्रभु में विश्वास करता है, उसके जीवन में अन्य-विश्वास नहीं रहता। जब अन्य विश्वास नहीं रहता तो अन्य सम्बन्ध कैसे रहेगा ? और जब अन्य सम्बन्ध नहीं रहेगा तो अन्य चिन्तन कैसे रहेगा ? और जब अन्य चिन्तन नहीं रहेगा तो मानसिक रोग कैसे होंगे ? इसलिये अगर आप प्रभु में विश्वास करते हैं तो अन्य सभी विश्वासों को छोड़ दीजिये। विश्वास का काम है सम्बन्ध जोड़ना। अगर हम प्रभु में विश्वास करेंगे तो हमारा प्रभु से सम्बन्ध हो जायेगा और सम्बन्ध का काम है सोई हुई स्मृति को जगा देना। सम्बन्ध स्मृति को जगा देता है। आज हमारे और परमात्मा के बीच में जो दूरी, भेद, भिन्नता है वह क्यों है ?—विस्मृति से। अगर स्मृति जागृत हो जाय तो दूरी का भी नाश हो जाय, भेद भी नाश हो जाय, भिन्नता भी नाश हो जाय।

देखिए ! भगवद्-स्मृति कोई शरीर धर्म नहीं है कि शरीर के द्वारा भगवद्-स्मरण कर पायेंगे। अपना शरीर बलवान होगा तो स्मृति जगेगी कि बड़े पढ़े-लिखे होंगे तो स्मृति ज... कि समाज में कोई ऊँचा स्थान होगा तो जगेगी। ऐसा नहीं है।

स्मृति है स्वधर्म और वह केवल आत्मीय- सम्बन्ध से जागृत होती है। आत्मीय-सम्बन्ध के सिवा स्मृति कभी जागृत नहीं होती। जो प्रभु से सम्बन्ध जोड़ते हैं वे सबसे पहले क्या मानते हैं ? यह जो कुछ है, सारी सृष्टि, प्रभु की है—ऐसा मानते हैं। जब मनुष्य यह मान लेता है कि जो कुछ है प्रभु का है, तो उसमें ममता रहेगी क्या ?

**श्रोता :** नहीं।

और ममता का नाश हो जाने पर कामना उत्पन्न होगी क्या ?

**श्रोता**—नहीं।

तो सब कुछ प्रभु का है—ऐसा जब मान लेता है आदमी तो वह ममता से रहित हो जाता है, कामना से रहित हो जाता है। और जो ममता और कामना से रहित हो जाता है-उसे निर्विकारता और शान्ति नहीं मिलेगी ? और जब निर्विकारता और शान्ति जीवन में आजायेगी तो चित्त शुद्ध और शान्त नहीं होगा ? और जब चित्त शुद्ध और शान्त हो जायेगा, तब उसको क्या होगा ? जब चित्त शुद्ध और शान्त हो जाता है तो वह परमात्मा जो कहीं दूर मालूम होता था, वह सर्वत्र मालूम होने लगता है तब वह कहता है कि जो कुछ है इसमें सत्ता-रूप से परमात्मा ही हैं। जब उसे यह मालूम हो जाता है कि-सत्ता-रूप से केवल परमात्मा ही हैं और परमात्मा है उसका अपना प्रिय। तो जब प्रेम की वृद्धि होती है तब सब कुछ तो खो जाता है, केवल परमात्मा रह जाता है अर्थात् प्रीति और प्रीतम का नित्य विहार रह जाता है। प्रेम और प्रेमास्पद का नित्य-विहार रह जाता है। उसी विहार को वैष्णव मत के अनुसार राधा और

कृष्ण का विहार कहा जाता है, सीता-राम का विहार कहा जाता है, गौरी-शंकर का विहार कहा जाता है। वह विहार रह जाता है। यह किसका जीवन है ?-जिसने ईमानदारी से अपने द्वारा इस सत्य को स्वीकार किया कि, प्रभु मेरे अपने हैं और सब कुछ प्रभु का है, सब में प्रभु हैं, केवल प्रभु हैं। उसकी दशा यह हो जाती है।

तो मुझे यह निवेदन करना था कि जिसने यह स्वीकार किया कि सभी के होने से प्रभु मेरे हैं और सबकुछ प्रभु का है। तो प्रभु के नाते सबके प्रति सद्भाव और सहयोग होगा कि नहीं ? जो सभी को अपना मानेगा प्रभु के नाते से, तो उसके हृदय में सबके प्रति सद्भाव होगा और सहयोग होगा। यथाशक्ति सहयोग शरीर-धर्म है और सद्भाव--हृदय यानी मन का धर्म है। तन और मन उसका सेवा में लग जायेगा। क्योंकि उसके मन में तो सबके प्रति सद्भाव जग जायेगा और सभी को यथाशक्ति सहयोग देगा। तो जो सभी के प्रति सद्भाव और सहयोग देता है वह राग-रहित हो जाता है। और जब राग-रहित हो जाता है तब सभी में उसे अपना प्रभु ही नजर आता है। वह कल्पना नहीं करता, भावना नहीं करता—

'दर दीवार दर्पन भयो, जित देखूं तित तोय।
कंकर पत्थर ठीकरी, भयी आरसी मोय ॥

जब सब में उसको प्रभु नजर आता है तो उसकी दृष्टि प्रभु पर रहेगी कि सब पर रहेगी ? प्रभु पर रहेगी। तो उसमें अगाध-प्रियता का उदय होता है। जब अगाध-प्रियता का उदय होजाता है तो प्रभु और प्रभु की प्रियता रह जाती है, शेष सबकुछ समाप्त हो जाता है।

देखिये सृष्टि कोई ऐसी ठोस वस्तु नहीं है। यह बड़ी

गम्भीर बात है, विचार करने की बात है। सृष्टि कोई ऐसी ठोस वस्तु नहीं है कि जिसको आप उठा कर कहीं रख दें या उसको पकड़ लें, या उसको प्राप्त करलें। एक ऐसा अजीब खेल है सृष्टि का कि इसकी स्थिति है ही नहीं। यह बात समझ में आती है? सृष्टि की स्वतन्त्र स्थिति नहीं है। अगर आप इस सत्य को अनुभव कर लेते कि सृष्टि की स्वतन्त्र स्थिति नहीं है तो अकिंचन और अचाह हो जाते—मेरा कुछ नहीं, है मुझे कुछ नहीं चाहिए। और जब अकिंचन और अचाह हो जाते हैं तो चित्त शुद्ध और शान्त हो जाता है। देखो! चित्त की शान्ति, मेरा कुछ नहीं है—इस बात से होती है; मुझे कुछ नहीं चाहिए—इस बात से होती है। यह चित्त-शुद्धि का सबसे बड़ा उपाय है और यह जीवन का सत्य है। क्यों सत्य है? कि मेरा किसी वस्तु पर स्वतन्त्र अधिकार है क्या? सभी कामनाएं पूरी होते देखी हैं क्या? तो जो आदमी केवल इतना मान लेता है कि संसार में परसनल कुछ नहीं है, व्यक्तिगत कुछ नहीं है, मुझे कुछ नहीं चाहिए—उसका चित्त हो जाता है शुद्ध और शान्त। जब चित्त शुद्ध हो जाता है तो विकार उत्पन्न नहीं होते और जब शान्त हो जाता है तो जहाँ लगना चाहिए, वहाँ सदा के लिए लग जाता है।

अच्छा हम कैसे समझें कि हमारा चित्त परमात्मा में लग गया। कैसे समझें? जब तक लगता और हटता हुआ मालुम हो तब तक परमात्मा में नहीं लगा। जब तक मालुम हो कि चित्त लग गया और फिर मालूम हो कि हट गया तो लगा ही नहीं। जब चित्त परमात्मा में लगता है तो लगने और हटने का प्रश्न ही नहीं रहता। यह सदा के लिए हल हो जाता है। और जब परमात्मा में चित्त लग जाता है तो उससे

नित्य योग, उसका बोध और प्रेम प्राप्त हो जाता है। परमात्मा में चित्त लगने मात्र से योग, बोध और प्रेम की प्राप्ति हो जाती है। परन्तु भाई, इस बात को अनुभव करके देखो। कैसे अनुभव होगा ? परमात्मा में चित्त कब लगेगा ? जब हम यह मान लेंगे कि परमात्मा अपना है, अपने में है, अभी है। सब कुछ उन्हीं का है, मुझे उनसे कुछ नहीं चाहिए। क्यों नहीं चाहिए ? कि जब परमात्मा ही अपना है तो अपने को चाहिए क्या ? अरे भाई, मालिक जिसका अपना हो उसको मिल्कियत में से भी कुछ चाहिए क्या ? क्या राय है ? जब मालिक हमारा अपना है तो उस मालिक की मिल्कियत से हमें क्या मतलब। जरा सोचिए ! मिल्कियत तो उसके पीछे-पीछे दौड़ेगी। मालिक को जो पसन्द कर लेगा, मिल्कियत उसके पीछे दौड़ेगी। उसे मिल्कियत से क्या मतलब। तो परमात्मा में चित्त लग जाता है, परमात्मा को अपना मानने से, और सब कुछ प्रभु का है–यह मानने से, और मुझे उनसे कुछ नहीं चाहिए—यह मानने से। मेरा कुछ नहीं है, मुझे कुछ नहीं चाहिए, सब कुछ प्रभु का है–यह मानने से परमात्मा में मन लग जाता है। और जब परमात्मा में मन लग जाता है तब मन अमन हो जाता है। अमन यानी मन नहीं रहता, यह तो हिन्दी का अर्थ हुआ। उर्दू में अमन कहते हैं जहाँ बहार हो या आनन्द हो। उर्दू में अमन माने मौज, बहार, आनन्द और हिन्दी में अमन का अर्थ होता है बेमन का, मन-रहित। तो मन रहित है तो वहाँ चिर-शान्ति है वहाँ जीवन मुक्ति है। कोई रोक ही नहीं सकता। और जहाँ आनन्द है वहाँ आनन्द है ही। इसलिए भाई, परमात्मा को अपना मानना बहुत बड़ी चीज है।

अब करें क्या फिर ? प्रश्न होगा कि परमात्मा को तो अपना मान लिया, अब क्या करें। तो उसका अर्थ होगा कि

सभी के प्रति सद्भाव रखें और सहयोग दें। किसे सहयोग दें ? जिसे हमारे सहयोग की आवश्यकता है, उसे सहयोग देते रहें यथाशक्ति। और सभी के प्रति सद्भाव रखें। न संसार से कुछ चाहें, न परमात्मा से कुछ चाहें। क्योंकि 'अपने' से कुछ चाहने की बात रहती नहीं। अपने को अपने की चिन्ता स्वतः रहती है। आप जिसे अपना मानते हैं उसकी जरूरत को भूलते हैं क्या ? आपकी धर्मपत्नी बीमार हैं, उनकी दवा की विस्मृति होती है क्या आपको ?-नहीं होती ना ! तो परमात्मा इतने कम समझ हैं कि हम उन्हें अपना मानेंगे या उनके हैं ही और उन्हें हमारी जरूरत का ध्यान नहीं होगा ? जी ! अतः जो सच्चे ईश्वरवादी हैं वे प्राप्त परिस्थिति का भगवत्-नाते सदुपयोग करते रहते हैं, चाहते—वाहते कुछ नहीं। वे यह नहीं चाहते कि भूख लगी है तो हमको रोटी मिलनी ही चाहिए। वे कहते हैं कि भाई ! क्या यह हो सकता है कि मेरे लिए रोटी आवश्यक हो और न मिले ? और क्या रोटी खाना मेरे जीवन का लक्ष्य है ? सारी जिन्दगी खाते-खाते हो गई, खाने से छुट्टी मिली क्या ? खाने से कोई मौत से बचा क्या ? खाना मृत्यु को रोक सका क्या ? खाना मृत्यु को नहीं रोक सकता, खाने से खाने की रुचि पूरी नहीं होती। इसलिए प्रभु अपने हैं, उनसे मुझे कुछ नहीं चाहिए। उनके नाते सभी के प्रति सद्भाव और सहयोग रखना है।

अब जैसे, आजकल लोग कहते हैं कि साहब, काम नहीं मिलता, बेकारी बढ़ी हुई हैं। हम कहते हैं कि सही काम नहीं करते यह शिकायत ज्यादा है या काम नहीं मिलता यह शिकायत ज्यादा है ? हमको तो मजदूर भी सही नहीं मिलते आजकल, ऐसी कठिनाई पड़ गई है। जिस किसी साधक को रखना चाहते हैं, उसी का दिमाग टेढ़ा होता

रहता है। तो काम लोग करना नहीं चाहते और कहते हैं काम नहीं मिलता। काम करना नहीं चाहते, वरना काम करने वालों को काम नहीं मिलेगा ? एक हमारे मित्र थे उन विचारों का अब शरीर नहीं रहा। वे कहते थे-स्वामी जी, एक आदमी मेरे पास आया और कहा कि मुझे सर्विस चाहिए। यह सोहन लाल सांघी ने सुनाया था मुझे। तो उन्होंने कहा मेरे पास काम तो है नहीं। तो बोले-भाई हम तो ५० रू० प्रतिमाह से ज्यादा नहीं दे सकते। वह बोला—साहब मैं यह थोड़े ही कह रहा हूँ कि आप ५० रु० दीजिए। आप काम दीजिए और जो आपकी जो मरजी हो सो दीजिए। वही आदमी बाद में उनके यहाँ मैनेजर हो गया और ४०० रु० पाने लगा। क्यों ? वह सही काम करता गया, उसकी मार्केटिंग वैल्यू बढ़ती गई। आज सेवा के नाम पर हमारी मार्केटिंग वैल्यू नहीं बढ़ती उसका कारण क्या है ?—हम सही सेवा नहीं करते। जब काम करने से मार्केटिंग वैल्यू बढ़ जाती है, समाज में स्थान मिल जाता है तो सेवा करने वाले सेवक के तो पीछे-पीछे समाज को दौड़ना चाहिए। लेकिन हम सही सेवा करते ही नहीं।

इसीलिए, मेरा निवेदन था कि आप मानव हैं और मानव होने के नाते आपके हृदय में पर-पीड़ा रहनी चाहिए। देखो, पशु में और मनुष्य में फर्क क्या है ? पशु अपने दुःख से दुःखी होता है, अपने सुख से सुखी होता है। आप देखें, चाहे जब देख लें। लेकिन मनुष्य पर-पीड़ा से पीड़ित होता है, पर-सुख से सुखी होता है। यह मनुष्य का पहला कदम है। यह पहली बात है। यह आखिरी बात नहीं। यदि हमारे हृदय में पर पीड़ा रहने लगेगी, तब क्या होगा ?

तब हमें व्यक्तिगत दुःख से दुःखी नहीं होना पड़ेगा । आप देखिए, संस्था में हानि होती है। लेकिन ईमानदारी से सोचो, संस्था में जो लोग ठीक ईमानदारी से काम करते हैं उनको वैसा ही लोभ और मोह सताता है जैसा संसार-वालों को सताता है । भाई.......साहब से पूछो, आपने बहुत संस्थाओं में काम किया है, संस्था में हानि होती है या नहीं कभी ? अच्छा, लोभ सताता है क्या ? कभी नहीं सताता । लोभ नहीं सताता । आगे से सजग होकर सावधानी बरतते हैं। और परिवार में ? तो मैं आपसे कहता हूँ कि जो समाज की सेवा नहीं कर सकता वह व्यक्तिगत दुःख से बच सकता है क्या ? क्या राय है ? आपने सुना होगा, जिस वक्त बंगला देश में जुल्म हो रहे थे, उस वक्त विनोबा जी के मुख से एक वाक्य निकला—"मैं क्या बताऊं, मैंने आज रोटी बड़े दुःख से खाई है।" बंगालियों के दुःख से वे दुःखी हो रहे थे। उन्हें अपने दुःख से दुःखी होना पड़ेगा क्या ? आज हम इस सत्य को भूल गये और दूसरों के दुःख से दुःखी नहीं होते । तब प्रकृति क्या विधान बनाती है कि हमें फिर व्यक्तिगत दुःख से दुःखी होना पड़ता है। तो मैं आपसे पूछता हूँ कि व्यक्तिगत दुःख से दुःखी होना साधन-रूप दुःख है कि दूसरों के दुःख से दुःखी होना साधन-रूप दुःख है ?

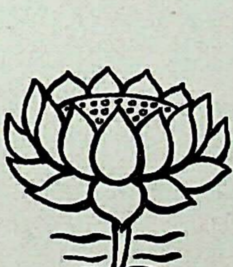
श्रोता—दूसरों के दुःख से दुःखी होना ।

इसीलिए मैंने आपसे निवेदन किया कि मनुष्य को सोचना चाहिए कि भाई, एक दिन ऐसा था जबकि हम इतने असमर्थ थे कि अपनी मुंह की मक्खी नहीं उड़ा सकते थे। समाज की उदारता से हम कुछ करने के लायक हुए। तो जिस वक्त करने के लायक हुए उस समय हमें अपने सुख

की चिन्ता करनी चाहिए कि समाज के हित की चिन्ता करनी चाहिए? —समाज के हित की चिन्ता करनी चाहिए।

इसीलिए मैं आपसे यह निवेदन करना चाहता हूँ कि मनुष्य के विकास का पहला कदम है कि भाई, हमें दूसरों के दुःख से दुःखी होना चाहिए। तब उसके हृदय में करुणा का रस प्रवाहित होता है। और जब दूसरों के सुख से सुखी, प्रसन्न होता है तो प्रसन्नता का रस बहता है। करुणा और प्रसन्नता हमारी निजी-निधि होनी चाहिए। करुणा का रस जब तक नहीं आयेगा, सुख--भोग की रुचि मिटेगी नहीं। प्रसन्नता का रस जब तक नहीं आयेगा, तब तक कामनायें नाश होंगी नहीं। इसलिए हम सब का हृदय करुणा और प्रसन्नता से भरना चाहिए। वह तभी होगा जब हम दूसरों के दुःख से दुःखी हो सकें अथवा दूसरों के सुख से प्रसन्न हो सकें। तो यह पहला कदम है। आखिरी कदम क्या है? भोग की रुचि और काम का जब नाश हो जाता है तब जीवन-मुक्ति का आनन्द आता है। भोग की रुचि नाश हुई तो योग प्राप्त हो गया, काम नाश हुआ तो राम प्राप्त हो गया। फिर क्या होता है कि जब योग ओर बोध प्राप्त हो जाता है, तब स्वतः प्रेम और प्रेमास्पद का नित्य-विहार होने लगता है। इसी विहार की मांग मनुष्य की अपनी मांग है। हमारा अस्तित्व प्रेम से भिन्न कुछ न रह जाय। हमारा अस्तित्व वोध और योग से भिन्न कुछ न रह जाय। भोग-मोह-आसक्ति की अत्यन्त निवृत्ति हो जाय। और योग-वोध-प्रेम की प्राप्ति हो जाय। इस मांग को सामने रखना चाहिए, इस मांग को हमें भूलना नहीं

चाहिए । दिन में कई बार—मुझे योग, बोध और प्रेम चाहिए। मुझे योग, बोध और प्रेम चाहिए। मेरे सामने समस्या होनी चाहिए—भोग, मोह और आसक्ति की निवृत्ति और योग, बोध, प्रेम की प्राप्ति की । यह मांग पूरी हो सकती है। परन्तु कब ? जब कि हम सत्य को स्वीकार करें। सत्य क्या है ? पर-पीड़ा से पीड़ित होना सत्य है। अचाह होना सत्य है। भगवान का आश्रय लेकर शरणागत होना सत्य है। तो जहाँ से हमको पसन्द आये—चाहे शरणागति से आरम्भ करें, चाहे अचाह से, चाहे पर-पीड़ा से–तीनों का परिणाम एक होगा कि हमें योग-बोध-प्रेम की प्राप्ति हो जाएगी। और हम सदा–सदा के लिए, चिरशान्ति, जीवन-मुक्ति और भगवद्–भक्ति पाकर कृतकृत्य हो जायेंगे । यह निर्विवाद सत्य है।



## ४

## ( ब )

मानव सत्य को स्वीकार करने में स्वाधीन है, परन्तु वह प्रमादवश दृश्य के पराधीनता जनित सुख को पसन्द करता है। दुःख और अभाव में आबद्ध रहता है, फिर भी सत्य को स्वीकार नहीं करता।

सत्संग के द्वारा प्रमाद का नाश करना अनिवार्य है। दृश्य के सहयोग से मिलने वाले सुख को नापसन्द कर देने से नित्य-योग की प्राप्ति होती है। शरीर की एकता संसार से है और मनुष्य की एकता अविनाशी तत्व से है। इस सत्य को स्वीकार करके शरीर और संसार से सम्बन्ध तोड़ देने पर योग-बोध और प्रेम की अभिव्यक्ति हो जाती है। यह मानव जीवन की पूर्णता है।

## प्रवचन :

मानव जीवन बड़े ही महत्व की वस्तु है। कारण कि इस जीवन में हमें सत्य को स्वीकार करने की स्वाधीनता है। सत्य को स्वीकार करने मात्र से असाधन का नाश और साधन की अभिव्यक्ति होती है, अर्थात् साधन और जीवन में अभिन्नता होती है। अब प्रश्न यह उत्पन्न होता है कि फिर हम क्यों नहीं शीघ्रातिशीघ्र् साधन--निष्ठ होकर साध्य से अभिन्न हो जाते? तो मुझे ऐसा लगता है कि परिस्थिति के आश्रय को लेकर जो हम सुख भोगते हैं, उसका प्रलोभन हमें सत्य को स्वीकार नहीं करने देता। परिस्थिति का सहयोग कह दो, चाहे दार्शनिक भाषा में दृश्य का सहयोग कह दो। दृश्य के सहयोग से जो हम सुख का भोग करते हैं, यही हमारा एक ऐसा प्रमाद है कि जो हमें सत्य को स्वीकार नहीं करने देता। यद्यपि सुख के भोगी को भयंकर दुःख भोगना ही पड़ता है और जब तक वह सुख का भोग करता रहेगा, तब तक उसे अनन्त काल तक दुःख ही भोगना पड़ेगा। केवल जड़ता में लय होने मात्र से दुःख की मात्रा कुछ घटेगी, पर मिटेगी नहीं। अगर यह वैधानिक तथ्य हम स्वीकार कर लें कि भाई, भयंकर दुःख से बचना हो तो सुख का भोग मत करो। और जिसके जीवन में सुख-भोग का प्रलोभन नहीं रहता, उसका दृश्य से सम्बन्ध टूट जाता है—अपने लिए। यह बात आपकी समझ में आई कि नहीं? यह भाषा समझ में आई आपके ?

श्रोता—आई।

दृश्य से सम्बन्ध टूट जाता है तो इसका मतलब क्या हुआ कि फिर उसकी दृष्टि अपने उद्गम में विलीन हो जाती है। जब साधक की दृष्टि दृश्य से विमुख होकर अपने उद्गम में विलीन हो जाती है तब वह अपने में सन्तुष्ट होकर एक अविनाशी जीवन से अभिन्न होता है। अगर यह बात आपको अपनी बात मालूम हो, ठीक बात मालूम हो, पसन्द आती हो, तो हमें यह प्रयास करना चाहिए कि हमारी दृष्टि बिना दृश्य के स्थिर हो जाय। हमारा चित्त बिना आधार के शान्त हो जाय। अगर ये दो बातें आपको पसन्द आ जाए तो आप 'राज योग' की प्राप्ति कर सकते हैं।

"राज योग" में यही दो बातें प्रधान हैं कि दृष्टि बिना दृश्य के स्थिर हो जाय, चित्त बिना आधार के शान्त हो जाय। तब क्या होता है कि प्राण बिना निरोध के सम हो जाता है अर्थात् योग प्राप्त हो जाता है। इसी को "राज योग" कहते हैं। "राज योग" में प्राणों पर दबाव नहीं डाला जाता, शरीर पर दबाव नहीं डाला जाता बल्कि मन का सुधार किया जाता है, अपनी रुचि को बदला जाता है। मन के सुधार का अर्थ क्या है ? मन कोई बिगड़ता थोड़े ही है। मन रुचि के अधीन रहता है। अगर हम अपनी रुचि बदल दें तो मन बदल जाता है। वह रुचि हमारी क्या है कि दृश्य के आश्रय से प्रतीत होने वाला सुख हम से छोड़ा नहीं जाता, अथवा वह हमको नापसन्द नहीं होता। अगर दृश्य के आश्रय से उत्पन्न होने वाला सुख हमें नापसन्द हो जाय तो हम बड़ी सुगमता-पूर्वक योगवित् हो जाएं और योगवित् होने से आत्मवित् होनेकी सामर्थ्य आ जाए।

और आत्मवित् होने से ब्रह्मवित् हो जाएं। इन तीनों में इतना घनिष्ट सम्बन्ध है कि योगवित् आत्मवित् हो ही जायगा। पर एक सावधानी रखनी पड़ेगी कि योग का जो वाह्य रूप है, वाह्य फल है—भिन्न-भिन्न प्रकार की शक्तियों का प्रादुर्भाव होना। साधक अगर उन शक्तियों का भोग नहीं करेगा तो आत्मवित् हो जाएगा।

योग तो वास्तव में एक प्रकार से भौतिक-विज्ञान है। योग का जो बाह्य रूप है, वह भौतिक-विज्ञान है। भौतिक विज्ञान की चरम सीमा योग में ही जाकर होती है—जैसे कि अलौकिक शक्तियों का प्राप्त हो जाना, कामना पूर्ति की सामर्थ्य का आ जाना, इत्यादि। यद्यपि योग का जो उत्तर पक्ष है वह कामना-निवृत्ति की प्रेरणा देता है। पूर्व पक्ष जो है वह कामना पूर्ति की, दिव्य शक्तियों के उपयोग की प्रेरणा देता है। यानी वे शक्तियाँ इससे ( योग से ) प्राप्त होती हैं। परन्तु हमें अपने लिए किसी प्रकार के दृश्य का सहयोग नहीं चाहिए। अगर यह बात दृढ़ता के साथ हम पसन्द कर लें तो वियोग का भय भी जाता रहेगा और नित्य-योग भी प्राप्त हो जाएगा। यह योग का उत्तर पक्ष है—नित्ययोग का प्राप्त हो जाना। योग से मिली हुई शक्तियों का भोग करना--यह योग का पूर्व पक्ष है, उत्तर पक्ष नहीं है। यह पहली चीज है, आखिरी चीज नहीं है। इसलिए योग अनेक प्रकार से बताया गया है। देखिये ! जब तक योग का आश्रय मनुष्य नहीं लेता तब तक भौतिक उन्नति भी नहीं होती। अर्थात् भोगी को भी योग चाहिए और विवेकी को भी योग चाहिए और प्रेमी को भी योग चाहिए। बिना योग के

बिना योग उच्च कोटि का भोग भी सिद्ध नहीं होता और बिना योग के प्रेम के विवेक में भी दृढ़ता नहीं आती और बिना योग के प्रेम भी स्थाई नहीं होता—ऐसा विधान मालूम होता है मुझको।

तो मैं आपसे यह नम्र--निवेदन कर रहा था कि भाई, भोग के लिए योग का उपयोग मत करो। अगर हम भोग के लिए योग का उपयोग नहीं करेंगे तो बोध और प्रेम की प्राप्ति हो जायगी, अपने आप। क्योंकि जिससे दूरी नहीं रहती, उससे भेद भी नहीं रहता और जिससे भेद नहीं रहता उससे भिन्नता भी नहीं रहती। तो जो वास्तविक जीवन है या मानव का जो चरम लक्ष्य है, उससे दूरी न रहे, उससे भेद न रहे, उससे भिन्नता न रहे। अथवा यों कहो कि जिससे हमारी दूरी हो ही नहीं सकती, भेद और भिन्नता हो ही नहीं सकती, वही हमारा आपका अपना है और वही वास्तविक जीवन है। तो आप किसी दृश्य के साथ यह बात नहीं लगा सकते। यानी ऐसा कोई दृश्य आपको नहीं मिलेगा, जिससे किसी-न-किसी अंश में आपकी दूरी न रहे, भेद और भिन्नता न रहे। क्या राय है ? यह बात समझ में आती है ? कोई दृश्य ऐसा हो सकता है, जिससे सर्वांश में दूरी, भेद और भिन्नता का नाश हो जाय ?

श्रोता—नहीं हो सकता।

अब देखिए, आप जो यह कह रहे हैं तो आप अपने अनुभव के आधार पर कह रहे हैं, सीख कर के नहीं बोल रहे हैं। यह किसी प्रमाण के आधार पर नहीं बोल रहे हैं। फिर अपने अनुभव का आप अनादर न करें।

जिससे हमारी कभी किसी अंश में भी दूरी रहती है, उससे सदा के लिए दूरी हो जाती है। अलग कौन होता है ? जो अलग है। मिलता कौन है ? जो मिला है। अगर यह बात आपको अपनी बात जँच जाय, यह रहस्य आपको स्पष्ट हो जाय कि जो अलग है वही अलग होगा तो संयोग में वियोग का दर्शन हो जाय। परन्तु जब हम इस बात को स्वीकार नहीं करते, तब क्या होता है ? किसी प्रिय-जन का शरीर छूट गया, अब लोग दुःखी हो रहे हैं। अरे भाई ! सोचो तो सही, उस प्रिय-जन का शरीर तुमसे अलग था कि नहीं ? गहरी नींद में नित्य हम एक दूसरे से अलग होते है कि नहीं ? अलग होते हैं। तो जो अलग है वही तो अलग होगा। जो अलग नहीं है वही तो मिलेगा। दृश्य से अतीत जो स्वतः सिद्ध तत्व है, वह कभी किसी से अलग नहीं है। अतः उसी की प्राप्ति होगी। और समस्त दृश्य चूंकि भिन्न है, इसलिए अलग होगा। अभिन्न नहीं है, इसलिए अलग होगा।

देखिए, भिन्नता भी कई प्रकार की होती है। आप विचार करके देखो, कारण की एकता होते हुए भी कार्य में भिन्नता हो जाती है।जैसे —प्रकाश के बिना रूप नहीं बनता और प्रकाश के बिना आँख नहीं देखती। लेकिन आँख का देखना और रूप का बनना इन दोनों में भिन्नता मालूम होती है कि नहीं ! लेकिन कारण की भिन्नता है क्या ?

श्रोता—नहीं।

जैसे आकाश के बिना शब्द नहीं बनता और आकाश के बिना आपका कान सुन भी नहीं सकता। यह नियम है। तो मैं यह निवेदन कर रहा था कि संसार में एक तो भिन्नता

इस प्रकार की है कि कारण की तो एकता है, लेकिन कार्य में भिन्नता है। क्योंकि आकाश ही कारण है शब्द का और श्रोत्र का। जल ही कारण है रस और रसना का। इस प्रकार आप देखेंगे कि सृष्टि में जो भिन्नता है वह कारण की एकता को लेकर है, कारण की एकता होने पर भी कार्य में भिन्नता है। और हमारे और आपके जीवन में जो भिन्नता है, जैसे कि मालूम नहीं होता कि हमारा जीवन कहाँ है, कब मिलेगा, हमसे अलग है—यह विस्मृति की भिन्नता है। यह भूल-जनित भिन्नता है। भूल-जनित जो भिन्नता होती है, वह भूल-रहित होने पर सदा के लिए मिट जाती है। विस्मृति से जो भिन्नता है, जो दूरी है, वह स्मृति से मिट जाती है। तो हमें जो चाहिए हमारा जो अपना है, उसके और हमारे बीच में विस्मृति की भिन्नता है, भूल-जनित भिन्नता है। स्वरूप से भिन्नता नहीं है। हमें जो चाहिए, वह हम में ही है। हम उसी में हैं। स्वरूप से हम एक दूसरे से अलग नहीं हैं। चाहे आप एक का नाम "जीव" और दूसरे का नाम 'ब्रह्म' रख लीजिए, हमें इसमें कोई आपत्ति नहीं है,इनमें स्वरूप से भिन्नता नहीं है, विस्मृति की भिन्नताहै, मूल-जनित भिन्नता है। जब हम दृश्य से विमुख हो जाते हैं, तो वह जो भूलजनित भिन्नता है,वह नाश हो जाती है। वह जो विस्मृति-जन्य भिन्नता है वह नाश हो जाती है।

तो मैं यह निवेदन कर रहा था कि अगर आपको यह बात समझ में आ जाय कि मानव जीवन की सबसे बड़ी विशेषता इसी बात में है कि वह अनन्त परमात्मा से अभिन्न हो सकता है और जगत् से सर्वदा ही भिन्न है। परन्तु हम प्रमादवश स्वयं आँख से तद्रूप होकर रूप का भोग करते

हैं। कान से तद्रूप होकर शब्द का भोग करते हैं, त्वचा से तद्रूप होकर स्पर्श का भोग करते हैं, रसना से तद्रूप होकर रस का भोग करते हैं और नासिका से तद्रूप होकर गंध का भोग करते हैं। तो यह जो भोग है—भोग, भोगने की शक्ति और भोक्ता—इन तीनों में कारण की एकता है, कार्य की भिन्नता है। हममें और परमात्मा में केवल-प्रमाद कहें, विस्मृति कहें, विमुखता कहें–इसकी भिन्नता है। अगर यह बात आपको जंचे, रुचे तो इस पर थोड़ा मनन कीजिए। अब इस सम्बन्ध में किसी भाई को कोई सन्देह उठे तो प्रश्न कीजिए। उस पर विचार किया जाय। क्योंकि परस्पर में विचार- विनिमय करने से भी सत्य का बोध होता है।

मैं यह निवेदन कर रहा था कि हम और आप साधक हैं। साध्य से हमारी जातीय एकता है, नित्य सम्बन्ध है, आत्मीय सम्बन्ध है। और किसी से न हमारी जातीय एकता है, न नित्य सम्बन्ध है, न आत्मीय सम्बन्ध है। साध्य किसे कहते हैं ? जो सभी का आराध्य है। जो सभी का आराध्य है, वही साध्य है। सभी का आराध्य कौन है ? कि जिसे पाकर फिर और कुछ पाना शेष नहीं रहता, वही सभी का आराध्य है। हम और हमारा आराध्य एक जाति के हैं। हमारा और आराध्य का नित्य–सम्बन्ध है। हमारा और आराध्य का आत्मीय-सम्बन्ध है। लेकिन हमारी और दृश्य की न जातीय एकता है, न नित्य–सम्बन्ध है, न आत्मीय सम्बन्ध है।

आप यदि स्थूल दृष्टि से भी सोचें तब भी आपको यह बात माननी पड़ेगी कि दृश्य के परिवर्तन का अनुभव तो आपको होता है, लेकिन कभी किसी को अपने परिवर्तन का अनुभव नहीं होता। हम अपने में जो परिवर्तन का आरोप

करते हैं वह दृश्य से तद्रूप होकर करते हैं। अगर हम दृश्य से तद्रूप न हों तो अपने में परिवर्तन का आरोप कोई कर ही नहीं सकता है। आप नहीं कह सकते कि जिस दृश्य को आप एक बार देख लेते हैं, दुबारा देखने का अवसर आते ही, उसमें परिवर्तन नहीं हो जाता! कोई वैज्ञानिक सिद्ध कर सकता है? कोई नहीं सिद्ध कर सकता है। समस्त वैज्ञानिकों को यह बात माननी पड़ती है कि दृश्य की अनुभूति एक बार होती है, दुबारा होती नहीं। लेकिन हम उस अनुभूति की सत्यता को पकड़ लेते हैं, उसकी सुख-रूपता को पकड़ लेते हैं। इसलिए हमें मालूम होता है कि यह वही वस्तु है जिसके द्वारा कल हमको सुख मिला था। हालांकि उस वस्तु में परिवर्तन का प्रवाह चल रहा है, भोगने की शक्ति का भी ह्रास हो रहा है, भोग्य वस्तु में भी सतत् विनाश हो रहा है। भोगने की शक्ति का ह्रास और भोग्य वस्तु का विनाश, तो इससे क्या सिद्ध हुआ कि न तो भोग्य-वस्तु की स्थिति है न, भोगने की शक्ति में ही नित्यता है। जब भोगने की शक्ति में ही नित्यता नहीं है, भोग्य वस्तु में ही नित्यता नहीं है तो भोग के आधार पर हमें कैसे वह जीवन मिल सकता है कि जिसमें अभाव, अशान्ति, पराधीनता, नीरसता नहीं है। मानना पड़ेगा कि नहीं मिल सकता।

भोग के आश्रय को लेकर अविनाशी, स्वाधीन, रस-रूप और चिन्मय जीवन नहीं मिल सकता। अतः हमें योग की तीव्र आवश्यकता अनुभव करनी चाहिए। और इस बात में दृढ़ आस्था करनी चाहिए कि हमें योग की प्राप्ति हो सकती है। क्यों? योग कहते ही उसको हैं जो नित्य-प्राप्त हो। उसी को योग कहते हैं। आप कहेंगे कि नित्य-प्राप्त

है फिर हम उसकी क्यों आवश्यकता अनुभव करें। वह तो प्राप्त है ही। लेकिन आपने जो भोग से तादात्म्य कर लिया है, भोग से जो ममता कर ली है, भोग की कामना कर ली है, इस कारण आपके सामने प्रश्न है कि योग की आवश्यकता अनुभव करें। अगर भोग की ममता, कामना और तादात्म्य तोड़ दें, तो आपकी योग से दूरी कभी हुई नहीं।

अतः आज मौलिक प्रश्न हमारे सामने भोग की रुचि के नाश का है, और कोई मौलिक प्रश्न नहीं है। उस भोग की रुचि को नाश करने के लिए ही हमें मिले हुए शरीर के द्वारा परिवार की, समाज की, संसार की सेवा करनी है। भोग नहीं करना है, सेवा करनी है। सेवा क्या है ? सेवा में दूसरे का हित निहित होता है। भोग में अपना सुख निहित होता है। तो हम अपने सुख के लिए मिली हुई वस्तु-रूपी शरीर का, योग्यता का, सामर्थ्य का उपयोग न करें। अपितु परहित में मिले हुए शरीर का, योग्यता का, सामर्थ्य का उपयोग करें। यह मिले हुए दृश्य का, प्रतीत होने वाले दृश्य का, परस्पर एक सहयोग है—निर्वाह है। इससे शरीर और संसार का परस्पर निर्वाह सिद्ध हो जायगा। अगर इस नीति को आप मानेंगे तब तो ठीक, और अगर सेवा के फल में भी आपको अपना ही सुख चाहिए, तो फिर बात नहीं बनेगी। अतः सेवा और त्याग से आपको प्रेमतत्व की प्राप्ति होगी और प्रेम-तत्व की प्राप्ति से ही आपके जीवन में पूर्णता होगी। यह निर्विवाद सत्य है।

# ५

## ( अ )

मनुष्य के जीवन का सबसे बड़ा विपर्यय (illusion) यह है कि उसे संसार प्रत्यक्ष और परमात्मा अत्यन्त रहस्यमय प्रतीत होता है। परन्तु सत्य यह है कि परमात्मा नित्य-प्राप्त है और जगत सदा ही अप्राप्त है। बड़े कुतूहल की बात है कि अप्राप्त जगत् को प्राप्त मान कर व्यक्ति लोभ, मोह, काम, क्रोध नीरसता, अभाव और मृत्यु का कष्ट भोगता है। और नित्य-प्राप्त परमात्मा को अपने से दूर मान कर अनाथपन से पीड़ित रहता है। मनुष्य के इस भ्रम की निवृत्ति किसी विधि, विधान, अनुष्ठान आदि से नहीं होती है। क्रिया-शक्ति, विचार-शक्ति और भाव-शक्ति के सदुपयोग से सर्वोच्च जीवन मिलता है इस तथ्य का सर्वमान्य स्पष्टीकरण प्रस्तुत प्रवचन में मिलेगा।

## प्रवचन :

मनुष्य के जीवन की समस्याओं पर विचार करने से ऐसा लगता है कि एक बड़ी समस्या यह भी है हमारे सामने कि मौजूद परमात्मा दूर मालूम होता है और जिस जगत से हमारा किसी भी काल में सम्बन्ध नहीं हुआ वह मिला हुआ मालूम होता है, समीप मालूम होता है। यह एक साधक के जीवन की समस्या है। जिसका वास्तव में अस्तित्व नहीं है, वह प्राप्त मालूम होता है और जिसका—नित्य अस्तित्व है वह दूर मालूम होता है। यह भाषा आप लोगों की समझ में आती है ? यह एक साधक के जीवन की समस्या है। आप विचार करके देखिए कि परमात्मा उसे नहीं कहा गया जो सर्व देश में, सर्व काल में, सर्वत्र और सभी का न हो। इसका क्या अर्थ निकला, कि जो अपना है, अभी है, अपने में है वह अप्राप्त मालूम होता है और जो किसी भी काल में अपना नहीं है, जिसकी स्वतन्त्र स्थिति भी नहीं है वह मालूम होता है कि हमको प्राप्त हो गया।

आप लोगों में कोई भाई, कोई बहन इस समस्या का अनुभव करते हैं कि नहीं करते; यह तो आप लोग ही जानें। यह जो समस्या है कि मौजूद परमात्मा अप्राप्त और अप्राप्त संसार प्राप्त, ऐसा जो हमको लगता है, इसका एक कारण है और वह कारण यह है कि हमने अपनी ही भूल से जो अपना है उसे अपना मानना बन्द कर दिया और जो अपना नहीं है उसे अपना मान लिया। अपना क्या नहीं है ? -इस प्रश्न को सामने

रखा जाए तो साफ मालूम होता है कि जो सदैव हमारे साथ नहीं रह सकता अथवा सदैव हम जिसके साथ नहीं रह सकते, वह अपना नहीं है। आप बताइये, जिन मिले हुए व्यक्तियों से, जिन मिली हुई वस्तुओं से, परिस्थितियों से हम अपनी ममता जोड़ते हैं, क्या यह सत्य है कि वे सदैव हमारे साथ रह सकती हैं ? अथवा हम उनके साथ रह सकते हैं ? सदैव का अर्थ यहाँ लेना चाहिए कि अखण्ड रूप से रह सकते हैं क्या ? हमें बचपन की एक घटना याद आ गई। हम अपने मित्र के साथ बैठे बात कर रहे थे। तीन प्राणी थे—हम थे, हमारे मित्र थे और उनकी धर्मपत्नी थीं। ऐसे ही परस्पर स्नेह की बातें हो रहीं थीं। और यह बात मेरे मुंह से निकल कर फैल गई थी कि मैं साधु हो जाऊंगा। तो उन मित्र की धर्मपत्नी ने यह कहा कि जब आप साधु हो जायेंगे तो इस मुहब्बत को, इस प्रेम को कौन निभाएगा ? जो हमारे और आपके बीच में है। कुटुम्बियों में आपस में मुहब्बत ही तो होती है। चाहे पति-पत्नी के बीच की बात हो, चाहे पिता--पुत्र के बीच की बात हो, चाहे भाई--भाई के बीच की बात हो। मुहब्बत होती है आपस में। एक दूसरे को अपना मानते हैं। एक दूसरे को प्यारा लगता है। तो उन्होंने कहा कि इस मुहब्बत को कौन निभाएगा। बिल्कुल बहुत छोटी उम्र की बात है यह मेरी। याद मुझको अब तक है। तो मैंने उनसे यह कहा कि देखिए, अभी हम और आप बात कर रहे हैं, अच्छा लग रहा है। यह अच्छा लगना रह सकता है क्या ? अभी-अभी हम सबको नींद सताएगी। और हम तीनों ही कहने लगेंगे एक दूसरे से कि, "कल बात करेंगे, अब सो जाएं।,

तो क्या यह समस्या नहीं है कि जो अच्छा लगता है वह हमेशा नहीं रहता। क्या राय है आपकी ?

श्रोता—नहीं रहता।

अच्छा लगता है पर रहता नहीं। जब नहीं रहता तब क्या होता है ? चित्त दुःखी हो जाता है, निराश हो जाता है, अनेक प्रकार की मानसिक पीड़ाएं होने लगती हैं। क्या बतायें ! हमारा इतना पुराना साथी चला गया। बड़े परिश्रम से वस्तु प्राप्त की थी, चली गई। इस तरह की एक व्यथा हृदय में जगती है। इस व्यथा की निवृत्ति हो जाय इसके लिए उपाय क्या है ?—इस पर जब विचार करते हैं तो ऐसा लगता है कि भाई, अगर वस्तु है तो उसका सदुपयोग करो। अगर कोई व्यक्ति है, साथी है तो उसकी सेवा करो। इसमें कोई हानि नहीं है। वस्तु का सदुपयोग भी कर सकते हैं, वस्तु का उपार्जन भी कर सकते हैं। व्यक्ति की सेवा भी कर सकते हैं। यह तो ठीक है। पर भाई मेरे, अगर जंच जाय बात तो उसे अपना मत मानो ! न वस्तु को, न व्यक्ति को ! वस्तु में अपना शरीर भी आता है। जिसके साथ सदैव नहीं रह सकते, जो हमारे साथ सदैव नहीं रह सकता उसे हम अपना न मानें। उसकी सेवा करें, जब तक सम्भव है। केवल इतनी ही बात से हम में एक दैवी-शक्ति आयेगी और उसके आने से निर्विकारता भी प्राप्त होगी और निष्काम तथा असंग होने की सामर्थ्य आ जायेगी। मिली हुई वस्तु को, मिले हुए व्यक्तियों को बुरा न समझें। उनके साथ दुर्व्यवहार न करें, सद्व्यवहार करें। मिली हुई वस्तु को बुरा न समझें। उसका दुरुपयोग न करें, सदुपयोग करें।

तब क्या होगा ? तब हमें निर्ममता प्राप्त होगी । और जब निर्ममता प्राप्त होगी तब वस्तुओं के संग्रह की तो रुचि जाती रहेगी । और व्यक्तियों के साथ मोह का नाश हो जायगा । मोह नहीं रहेगा । अर्थात् हमें निर्लोभता और निर्मोहता प्राप्त होगी ।

जीवन का विज्ञान हमें यह प्रत्यक्ष करके दिखा देता है कि अगर हमारे जीवन में निर्लोभता आ जाय तो दरिद्रता नहीं रहती । और निर्मोहता आ जाय तो भय नहीं रहता । अब देखिए, यह जीवन की बात है । यह अनुभव करके देखने की बात है कि सही अर्थ में अगर हम निर्लोभ हो जाएँ तो हम दरिद्र नहीं रह सकते, और सही अर्थ में अगर निर्मोही हो जायं तो भय नहीं रह सकता ! अभय होने के लिए निर्मोही होना बहुत आवश्यक है । दरिद्रता मिटाने के लिए निर्लोभी होना बहुत आवश्यक है । आप कहेंगे, दरिद्रता मिटने का अर्थ क्या है ? दरिद्रता मिटने का अर्थ यह है कि आवश्यक कार्य पूरा हो जायगा, आवश्यक वस्तु अवश्य मिल जायगी । इसका अर्थ यह नही है कि आप करोड़पति हो जायेंगे । या कि आपके पासबहुत सी सम्पत्ति हो जायगी । और भय आपको कोई नहीं रहेगा । जिसके जीवन में मोह नहीं रहता उसके जीवन में भय नहीं रहता । निर्भयता जब प्राप्त होती है तो उसमें एक बड़ा अलौकिक रस मालूम होता है । बड़ी अपूर्व प्रसन्नता मालूम होती है । भयभीत जीवन में सदैव ही खिन्नता, नीरसता और अभाव रहता है । भय-रहित जीवन में अभाव नहीं रहता, नीरसता नहीं रहती, खिन्नता नहीं रहती—ऐसा मेरा विश्वास और अनुभव है । इसलिए भाई, कड़ा हृदय करके धीरज

के साथ सोचें। बहुत बुरा लगता है। प्राण-प्यारी पत्नी हो और हम यह मानें कि यह मेरी नहीं है यानी उसका पति माने कि मेरी नहीं है। तो यह कोई आसान बात तो नहीं है। क्या राय है? प्राण-प्यारा बेटा हो और पिता कहे कि मेरा नहीं है। बड़ा ही स्नेही, उदार पिता हो, पुत्र कहे तुम मेरे नहीं हो। आज्ञाकारी मित्र हो और मित्र कहे कि तुम मेरे नहीं हो। बड़ा कठिन लगता है।लगता है बड़ा कठिन पर है सत्य। यह कठिन मालूम होता है जरूर,पर सत्य है। अब यदि हम इस सत्य को मान लेते हैं, तो फिर ये अनेक ममताएं मिट करके कहाँ जायँ? गुरुवाणी से हमने सुना है, वेदवाणी से हमने सुना है कि वह जो इन्द्रियों की सीमा में न आने वाला, बुद्धि की सीमा में न आने वाला परमात्मा है। मन--वाणी का अगम-अगोचर, अविगत, अकथ, अपार जो बुद्धि से परे परमात्मा है भाई! केवल उसको, अपना मान लो। अगर हम केवल परमात्मा को अपना मान लें और सब प्रकार से उसी के होकर रहें और उन्हीं के नाते सबके प्रति सद्भाव रखें तो यह निर्विवाद सत्य है कि हमारा उन्हीं में नित्य-वास रहेगा।

अगर यह बात आप भाई--बहनों को जंचती हो, रुचती हो और पसन्द आती हो, तो काल्पनिक ममताओं को तोड़ कर, वास्तविक आत्मीयता को अपनाकर हम प्रभु को अपना मान लें। अब देखिए, यह ऐसी बात नहीं है कि जिसे हम और आप पूरा नहीं कर सकते। क्या राय है? किसी भाई को, किसी बहन को इसके सम्बन्ध में कोई तर्क हो तो करे। परमात्मा को अपना मानने में हम लोगो को क्या कठिनाई मालूम होती है? और प्रिय-जनों की सेवा करते हुए, वस्तुओं का सदुपयोग करते हुए, उनको अपना न मानने में क्या कठिनाई मालूम होती

है ? ये दोनों बातें आपको ही करनी होंगी । यह शरीर-धर्म नहीं है, यह स्वधर्म है । स्वधर्म-अर्थात् जीवन का सत्य है । यह जीवन का सत्य कि प्रिय-जनों की सेवा करेंगे, पर उनको अपना नहीं मानेंगे और जिसे देखा नहीं है उसे अपना मानेंगे। बड़े साहस की बात है। क्या राय है ? किसी के मन में कोई बात उठती हो तो बोलो भाई ! क्योंकि बात-चीत करने से ज्यादा समझ में आता है। यानी सेवा करें और अपना न मानें और दिखाई न दें और उसे अपना मानें ! अगर यह कार्यक्रम आप पूरा कर सकते हैं तो वह अनदेखा, जो देखने में नहीं आता, वह सदा के लिए अनदेखा नहीं रहेगा । जो दूर मालूम होता था वह प्राप्त मालूम होगा, मिला हुआ मालूम होगा। उस न दिखने वाले प्रभु से दूरी भी नहीं रहेगी भेद भी नहीं रहेगा, भिन्नता भी नहीं रहेगी । दूरी मिट जाती है तो उसका नाम योग हो जाता है। भेद मिट जाता है तो उसका नाम बोध हो जाता है और भिन्नता मिट जाय तो उसका नाम प्रेम हो जाता है। अर्थात् हम सभी को योग, बोध और प्रेम की प्राप्ति होगी।

श्रोता—दूरी, भेद, भिन्नता से पहले एक वाक्य निकला था कि न दिखने वाला, न दिखने वाला नहीं रहेगा। इसका क्या अर्थ है ?

स्वामी जी- हाँ। जो वाक्य निकला था वह यह था कि न दिखने वाला,न दिखने वाला नहीं रहेगा,दिख जायगा। पर इन्द्रिय-गोचर होकर नहीं। प्रीति होकर तुम उससे अभिन्न हो जाओगे। योग होकर तुम उससे अभिन्न हो जाओगे। बोध होकर तुम उससे

अभिन्न हो जाओगे। यानी जो आज दिखाई नहीं देता है, मालूम नहीं पड़ता है, इस तरह का रहेगा नहीं। वह नित्य-प्राप्त हो जायगा। अब आ गया समझ में ?

श्रोता—हाँ जी, आ गया।

नित्य-प्राप्त हो जायगा। और परमात्मा कहते ही उसको हैं जो नित्य-प्राप्त हो। जो कभी मिले और कभी अलग हो जाय, उसका नाम परमात्मा नहीं होता। किसी को मिले, किसी को न मिले उसका नाम परमात्मा नहीं होता। कहीं हो और कहीं न हो उसका नाम परमात्मा नहीं होता। परमात्मा उसी का नाम है जो सभी का हो, सदैव हो, सर्वत्र हो। तो, जो सभी का है वह अपना नहीं है क्या ? सदैव है तो अभी नहीं है क्या ? सर्वत्र है तो अपने में नहीं है क्या ? पर हम उसे अपना नहीं मानते इसलिए उससे दूरी अनुभव कर रहे हैं। और मिले हुए शरीर को, मिले हुए साथियों को, मिले हुए सामान को हम अपना मानते हैं। इसलिए उनकी समीपता का अनुभव कर रहे हैं, उनकी प्राप्ति अनुभव कर रहे हैं। वास्तव में इनकी प्राप्ति है नहीं। शरीर हम सबको प्राप्त दिखता है। कैसे कौतूहल की बात है, आश्चर्य की बात है। लोग कहते हैं कि अभी तो मौजूद है, छूटेगा तब छूट जाएगा। अरे बाबा ! छूटा है, मौजूद दिखता है, है नहीं। क्योंकि 'मैं' का और 'यह' का कभी सम्बन्ध हुआ नहीं। ममता के कारण 'मैं' का और 'यह' का सम्बन्ध मालूम होता है। और परमात्मा से कभी दूरी हुई नहीं, आत्मीयता के अभाव से दूरी मालूम होती है। अगर यह बात आपको जंचे, रुचे तो अनुभव करके देख लें। न जंचे तो तुम्हारी मर्जी।

तो ये दो बातें इतनी अधिक आवश्यक हैं हृदय की

शान्ति के लिए, दुःख की अत्यन्त निवृत्ति के लिए, नीरसता और अभाव के मिटाने के लिए कि अगर मिले हुए को अपना न माने और प्रभु को अपना मानें । मैं यह नहीं कहता हूँ कि आपको जो कुछ मिला हुआ है उसको यमुना में फेंक दो । यहाँ तो यमुना है गंगा तो है नहीं । मैं यह नहीं कहता । मैं ऐसा भी नहीं कहता कि उसका उपयोग मत करो । ऐसा भी नहीं कहता हूँ कि उसकी हिफाजत मत करो । पर भाई, यह जरूर कहता हूँ कि अपना मत मानो । देखभाल करो,सदुपयोग करो पर उसकी निन्दा मत करो । यह नहीं कहता हूँ कि निन्दा करो । पर अपना मत मानो । और केवल प्रभु को अपना मानो । अगर यह बात आपको अपनी बात मालूम हो तो मानो । मेरी बात मालूम हो तो मत मानिएगा, । अपनी बात मालूम हो तो मानो । और भाई सद्पुरुषों की बात मालूम हो तो भी मानो और वेदवाणी मालूम हो तो भी मानो । अपनी मालूम हो, वेद-वाणी मालूम हो, गुरुवाणी मालूम हो तो मान लो और ये तीनों बातें न मालूम हों तो मत मानो ।

तो वेद-वाणी से भी यह बात हमने सुनी है, गुरु-वाणी से भी यह बात सुनी है और जीवन में अनुभव करके भी देखा है कि अपना अगर कोई हो सकता है तो केवल परमात्मा ही हो सकता है और कोई अपना नहीं हो सकता । और वस्तु, योग्यता सामर्थ्य का अगर कोई उपयोग हो सकता है तो केवल सेवा हो सकती है । नहीं तो भोग करोगे तो मोह और आसक्ति में आबद्ध हो जाओगे । और ज्ञान का कोई भी प्रभाव हो सकता है तो यही हो सकता है कि मेरा कुछ नहीं है, मुझे कुछ नहीं चाहिए । इसी को मानव-सेवा-संघ की प्रणाली में "सत्संग" कहते हैं । जो इस सत्य को स्वीकार कर लेगा वह सत्संगी हो

जाएगा। सत्संगी हो जाएगा तो साधननिष्ठ हो जायगा। उसे योग प्राप्त हो जाएगा। योग माने साधन। बोध प्राप्त हो जाएगा। बोध माने साधन। प्रेम प्राप्त हो जाएगा। प्रेम माने साधन। तीनों को इकट्ठा कर दो तो इसका नाम होगा साधना। और साधना जो होती है, इसमें अब कुछ लोगों का मतभेद होगा। साधना जो होती है उसमें सत्ता साध्य की होती है, साधक की नहीं होती। इस पर जरा गौर करना। साधना जो होती है उसमें सत्ता साध्य की ही होती है। यानी साध्य का ही एक रूप है जिसे साधना कहते हैं और उसी साधना से हम साधकों की अभिन्नता होती है। अतः साधना में सत्ता साध्य की होती है इस दृष्टि से हम सबका जीवन एक उस अलौकिक तत्व को प्राप्त कर सकता है, जहाँ केवल अद्वैत है और कुछ नहीं। अद्वैत माने और कोई नहीं है, और कुछ नहीं है, केवल अद्वैत। अद्वैत शब्द का अर्थ हमारे गुरु महाराज प्रेम बताया करते थे। अद्वैत शब्द का अर्थ सन्त लोग बोध बताया करते हैं और योगी लोग योग बताया करते हैं। योग में अद्वैत है, बोध में अद्वैत है, प्रेम में अद्वैत है।

यह बात अगर आपको जंचती हो, रुचती हो तो देखो। कितना सुगम साधन है, कितना सुगम उपाय है। उपाय इतना सुगम है भैया, अपना न मान कर सदुपयोग नहीं कर सकते? सेवा नहीं कर सकते? क्या राय है? आप जाकर बड़े-बड़े जनरल मैनेजरों को देखो। वे जानते हैं कि फैक्टरी उनकी नहीं है लेकिन फैक्टरी की सेवा करते हैं कि नहीं?

श्रोता—जी! करते हैं।

तो हमको-आपको जहाँ-जहाँ मैनेजमेन्ट मिला है, काम

करने को मिला है. तो काम तो कर सकते हैं भाई, बिना अपना माने भी। सेवा भी कर सकते हैं, अपना बिना माने भी। हाँ प्रभु के नाते से करो, आत्मा के नाते से करो, जगत के नाते से करो। जगत एक इकाई है, उसमें सब आ गया। आत्मा एक इकाई है, उसमें सब आ गया। परमात्मा एक इकाई है, उसमें सब आ गया। अब आप परमात्मा के मानने वाले हो तो परमात्मा के नाते सेवा करो और आत्मा को मानने वाले हो तो आत्मा के नाते सेवा करो और जगत के मानने वाले हो तो जगत के नाते करो। तो आपको मिलेगा क्या ? सेवक को क्या मिलता है—प्रेम। जिसकी तुम सेवा करोगे उसका तुम्हें प्रेम मिलेगा। तुम्हें मिलेगा विश्व-प्रेम, आत्म-रति और प्रभु-प्रेम। यानी तुमको जो मिलेगा वह प्रेम ही मिलेगा और कुछ तुम्हें मिलने वाला नहीं। वह प्रेम आपको मिल सकता है। उसी प्रेम का जो विवेकात्मक रूप है वह बोध कहलाता है। और कोई चीज थोड़े ही है, वह प्रेम ही है। जैसे अपने में ( अपनी चीज में ) अपना प्रेम होता है कि नहीं होता है ? और अपने में ( स्वयं में ) अपना प्रेम होता है कि नहीं होता है ? बोलो ? "अपने" में अपना प्रेम होता है और अपने में 'अपना' प्रेम होता है। अगर परमात्मा को अपना मानोगे तो भी प्रेम ही मिलेगा, और अपने को आत्मा मानोगे तो भी प्रेम ही मिलेगा और अपने को जगत मानोगे तो भी प्रेम ही मिलेगा।

क्या आप शरीर को संसार की सीमा के बाहर ले जा सकते हैं, किसी दशा में भी ? देखो ! शरीर और संसार का इतना अविभाज्य सम्बन्ध है कि संसार से ही तो शरीर की उत्पत्ति हुई। विचार करके देखो ! खुराक खाई। खुराक कहाँ से आई ? भूमि से आई, जल से आई, वायु से आई, आकाश से

आई—प्राकृतिक पदार्थ इन्हीं से बनते हैं सब। क्या राय है? तो इन पंचभूतों से ही खुराक बनी। खुराक से ही रज-वीर्य बना, रज-वीर्य से ही तुम्हारा यह शरीर का पिंड बना। तो स्थित भी रहा संसार में ही, और लय हुआ तब ........। तो उत्पत्ति से पूर्व शरीर संसार में था उत्पत्ति के बाद भी संसार में हैं। और लय होने पर भी संसार में है। तो अगर आप शरीर को अपना कह सकते हैं तो विश्व को अपना क्यों नहीं कह सकते? कोई आप को कहे, यह अंगुली हमारी है, लाइये इसे तोड़ दें। पसन्द करोगे? तो इसलिए विश्व भी आपका स्वरूप है, आत्मा भी आपका स्वरूप है ओर परमात्मा भी आपका स्वरूप है। चाहे परमात्मा के नाते सभी की सेवा करो, चाहे आत्मा के नाते सभी की सेवा करो, चाहे विश्व के नाते सभी की सेवा करो। करना है अगर कुछ तो केवल सेवा करना है-और मिलना है अगर कुछ तो केवल प्रेम मिलना है। अगर कोई मिलने वाला तत्व है तो वह प्रेम है और करने वाला तत्व है तो सेवा है अथवा तीसरी चीज त्याग है–अचाह होना, मेरा कुछ नहीं। तो सेवा–त्याग– प्रेम ही तो मनुष्य का पुरुषार्थ है? क्या राय है?–कि और कुछ पुरुषार्थ है। जी! और कोई पुरुषार्थ नहीं। रोज आप लोग प्रार्थना करते हो—सभी का जीवन सेवा, त्याग, प्रेम से परिपूर्ण हो जाय। तो सेवा करना था कि ममता का भार रखना था अपने ऊपर। क्या राय है?

एक बड़ी ही दुखद घटना सुनाते हैं हम आपको, और जिस पर बीती है, उसी की कही हुई सुनाते हैं। सन् '५९ में ही उनसे हमारी भेंट हुई थी। हार्ट (हृदय) का जब मुझको अटेक हुआ था, उसके पहले या उसके आसपास ही भेंट हुई थी।

उन्होंने ही मेरी चिकित्सा शुरू की थी। डाक्टर की फीस वे ही दिया करती थीं। बीणा बहन नाम था उनका। सीता राम सोढ़ानी उनके पति थे। तो महाराज, उनका इकलौता लड़का था जो किसी भयंकर रोग से पीड़ित था। उन्होंने पूरी शक्ति लगा कर तन, मन, धन से उसकी खूब सेवा की। और सुना तो मैंने यहां तक था कि उन्होंने दूसरा बच्चा पैदा नहीं किया क्योंकि दूसरा अच्छा बच्चा पैदा हो जायगा तो इस बीमार बच्चे से मन हट जाएगा। अब आप सोच सकते हैं कि कितनी आदर्श मां थीं। तो महाराज, बड़ी गहरी ममता थी उस लड़के के भीतर उनकी। तो वे हमको सुनाने लगीं। डाक्टर बैठे हुए थे, हर तरह की चिकित्सा हो चुकी थी। हार्ट ठीक चल रहा था, होश में था बालक। वह अपनी मां को 'बा' कहता था। तो कहने लगा—'बा'! 'अब तुम मुझे जाने दो।' यानी उनकी ममता इतनी गहरे पकड़े हुई थी कि उस लड़के को मरने में भयंकर कष्ट हो रहा था। 'बा मुझको जाने दे', 'बा मुझको जाने दो'—वे कहती जाती थीं, आँसू गिरते जाते थे। मेरा भी हृदय भर आया सुनकर। तो मां ने कड़ा हृदय करके कहा—'बेटा! अगर तुमको जाने में आनन्द है तो अब तुम जाओ।' तो मैं आपसे यह निवेदन करना चाहता हूँ कि कोई भी सम्बन्धी, आपका प्रिय-जन कितना ही प्रिय हो, अगर आप उसकी ममता नहीं तोड़ेंगे तो स्वयं तो दुःखी रहेंगे ही, उसे भी दुःख होगा। इसलिए ममता तोड़नी चाहिए जीवित रहते हुए ही। और न रहने पर भी न तोड़ना तो बड़ी भारी गलती है।

तो मैं यह निवेदन कर रहा था कि दो बातें साधक के जीवन की समस्याएं मालूम हुईं मुझे कि केवल प्रभु को ही

अपना मानें। वे चाहे जो हों, चाहे कुछ करें। मिलें चाहे न मिलें कुछ परवाह नहीं। या तो हम अपना मानेंगे तो केवल प्रभु को ही अपना मानेंगे और किसी को अपना मानेंगे नहीं। यह बात अगर आपको जंच जाए, रुच जाए तो आपका दुःखी हृदय पीड़ित हृदय शांत हो सकता है। और आप अलौकिक जीवन के साथ अभिन्न हो सकते हैं, जो जीवन कभी भी, किसी भी महामानव को मिला है। जिसमें केवल रस है, न सुख है न दुःख है। केवल रस है। और अगर इस सत्य को नहीं मानेंगे तो सुख भोगेंगे अपनी मर्जी से, और दुःख भोगना पड़ेगा बेबसी से। साधक के जीवन की यह बड़ी भारी समस्या है कि क्या हम केवल सुख–दुःख भोगने के लिए ही पैदा हुए है? सुख--दुःख भोगने के लिए तो पैदा नहीं हुए हैं। सुख--दुःख का उपयोग करने के लिए पैदा हुए हैं। अगर हमारे जीवन में दुःख आया है तो वह त्याग की प्रेरणा देता है। सुख आया है तो वह सेवा की प्रेरणा देता है तीसरी चीज किसी भाई के जीवन में, किसी बहन के जीवन में है नहीं। या तो वह सुख अनुभव करेगा या वह दुःख अनुभव करेगा। तो सेवा करो अथवा त्याग करो, आपको प्रेम प्राप्त होगा। प्रेम दो ही चीजों से प्राप्त होता है--सेवा से और त्याग से। और किसी प्रकार प्रेम प्राप्त नहीं होता। यह जो आप चिन्तन करते रहते हैं, बड़ी गम्भीर बात है, चिन्तन करते करते चिन्तन में आसक्ति प्राप्त होती है, प्रेम प्राप्त नहीं होता। अभ्यास करते-करते जिस तरह का हम अभ्यास करते हैं, उसके बिना करे हम रह नहीं सकते। करने से उसमें आसक्ति होती है, प्रेम नहीं होता। प्रेम तभी प्राप्त होता है--सेवा करो या त्याग करो। भाई! सेवा करो या त्याग करो। त्याग माने अचाह होना। सेवा माने सभी के लिए उपयोगी

होना, सभी में सद्भाव रखना ।

तो सारांश क्या निकला ? कि अगर आप प्रभु विश्वासी हैं तो आपको यह व्रत लेना पड़ेगा—'अब मैं सब प्रकार से प्रभु का होकर ही रहूँगा। उन्हीं के नाते सभी के प्रति सद्भाव रखूंगा। तो सतगुरु--वाणी सुनने को मिलेगी कि 'बेटा ! तुम्हारा प्रभु में ही नित्य वास रहेगा। 'प्रभु ही में नित्य वास रहेगा।' तुम अगर प्रीति बनोगे, प्रीति तुम्हारा स्वरूप होगा, तो वे प्रीतम होंगे ! और तुम अगर प्रीतम होगे तो वे प्रीति होंगे ! आप विचार करके देखो, यह ब्रज-भूमि है। यहाँ राधा-कृष्ण का प्रेम बहुत प्रसिद्ध है। आपने रासलीला में भी देखा होगा, पोथी में भी पढ़ा होगा, सुना भी है। राधा कृष्ण की प्रेमी है, लेकिन क्या कृष्ण राधा के प्रेमी नहीं हैं ? क्या राय है ? आप जाकर देखिए, रास देखने वाले तो यहाँ बहुत हैं, बहुत देखते हैं। जाकर देखना कि जब राधा-कृष्ण का संवाद चलता है तो राधा कृष्ण की ओर देखती हैं, सखियों या सखाओं की और नही देखती हैं और कृष्ण राधा की ओर देखते हैं किसी और की ओर नहीं देखते। तो हमारे मन पर इसका यही असर पड़ा कि प्रेम तो इन दोनों में है। इसमें चाहे तुम शरणागत होकर राधा तत्व से अभिन्न हो जाओ, चाहे तुम असंग होकर कृष्ण-तत्व से अभिन्न हो जाओ । कृष्ण-तत्व से अभिन्न हो जाओगे तो राधा तुमको प्यारी लगेंगी। राधा-तत्व से अभिन्न हो जाओगे तो कृष्ण तुमको प्यारे लगेंगे। यह जीवन का सत्य है।

# ५

## ( ब )

अगर हमें अपने साध्य की विस्मृति न हो और हमारे जीवन में जो साधक--भाव हैं वो सजग बना रहे तो विवेक का आदर स्वाभाविक हो जाएगा। साध्य की विस्मृति क्यों होती है ? क्योंकि मनुष्य सुख, सुविधा, सम्मान को पसन्द कर लेता है जो अपनानहीं है, उसको पसन्द करने से जो सदा-सदा का अपना है उसकी विस्मृति हो जाती है ।

परामर्श यह है कि शरीर और संसार को अपना मत मानो, अपने लिए मत मानो तो इसकी आसक्ति मिट जाएगी और योग बोध और प्रेम की प्राप्ति हो जाएगी ।

—००:०:००—

**प्रवचन :**

हमारा साध्य क्या है ? इस पर सोचिए जरा ! वह विवेक के आदर के पूर्व प्राप्त होगा नहीं। जब हम अपने साध्य को ही भूल जाते हैं और सुख, सुविधा, सम्मान को पसन्द कर लेते हैं या उसकी आवश्यकता का अनुभव करते हैं—सुख की, सुविधा की, सम्मान की--तब विवेक का अनादर कर बैठते हैं, सुख के लिए, सुविधा के लिए, सम्मान के लिए। अगर हमें अपने साध्य की विस्मृति न हो और हमारे जीवन में जो साधक-भाव है वह सजग बना रहे तो विवेक का आदर होने में कोई बल थोड़े ही लगाना पड़ता है ! तो साध्य की विस्मृति होना, यानी हम अपने साध्य को भूल जाते हैं, यही इसका कारण है।

अब सोचिए, साध्य किसे कहते हैं ? साध्य उसे कहते हैं जिसकी प्राप्ति में विकल्प न हो, सन्देह न हो, निराशा न हो, उसको साध्य कहते हैं। जिसकी प्राप्ति में विकल्प है, सन्देह है वह साध्य नहीं कहलाता। अब सोचिए किस चीज की प्राप्ति में विकल्प नहीं होता। जो सदा हो और सभी के लिए हो, उसकी प्राप्ति में विकल्प नहीं होता। उत्पन्न हुई वस्तुओं में कोई वस्तु ऐसी है क्या, जो सदा के लिए हो अथवा सभी के लिए हो,-जी ?

श्रोता—नहीं।

तो इसका मतलब यह हुआ कि हमारा साध्य कोई वस्तु नहीं हो सकता, कोई व्यक्ति नहीं हो सकता, कोई परि-

स्थिति नहीं हो सकती, कोई अवस्था नहीं हो सकती । क्योंकि, यह तो सबके लिए होती नहीं और सदा के लिए रहती नहीं। जो वस्तु आपको प्राप्त है वह बहुतों को प्राप्त नहीं है, और जो बहुतों को प्राप्त है वह आपको प्राप्त नहीं है। और सदा के लिए भी आपको कोई वस्तु प्राप्त नहीं है। अतः हम इस सत्य को स्वीकार करें कि हमें वह नहीं चाहिए जो सभी के लिए और सदा के लिए नहीं है। अब इसके अतिरिक्त हमारी जितनी कामनाएं हैं, उनको हम छोड़ दें—इसी बात पर कि उनकी पूर्ति सदा के लिए सम्भव नहीं है और सभी के लिए सम्भव नहीं है। कामना-पूर्ति कोई भी ऐसी नहीं है जो सदा के लिए हो और सभी के लिए हो। अतएव, हमें निष्काम होना ही पड़ेगा।

अब, निष्काम होने में कठिनाई क्या होती है, कि हम निर्मम नहीं होते। अगर हम निर्मम हो जाए तो निष्काम होने की शक्ति आ जाय। और निष्काम हो जाएं तो असंग होने की शक्ति आ जाय। और जब ये तीनों चीजें—निर्ममता, निष्कामता और असंगता आ जाती हैं तो निर्विकारता, शान्ति और स्वाधीनता भी प्राप्त हो जाती है। अब निर्विकारता, शान्ति और स्वाधीनता किसी वस्तु के आश्रित हैं क्या? कि अमुक वस्तु प्राप्त करने से हमें निर्विकारता, शान्ति और स्वाधीनता प्राप्त हो जाएगी? जी!

श्रोता—नहीं है।

किसी परिस्थिति के आश्रित हैं क्या? किसी अवस्था के आश्रित हैं क्या? तो जो चीज अब किसी वस्तु के आश्रित नहीं, किसी व्यक्ति के आश्रित नहीं, किसी परिस्थिति और

अवस्था के आश्रित नहीं उस चीज की प्राप्ति में किसी वस्तु की अपेक्षा होती है क्या ? किसी व्यक्ति की अपेक्षा होती है क्या ? किसी परिस्थिति-विशेष की आवश्यकता होती है क्या ?

श्रोता—नहीं होती।

अगर यह बात मालूम है तो फिर हमारे जीवन में अप्राप्त वस्तु का, अप्राप्त परिस्थिति का चिन्तन नहीं रहना चाहिए। किन्तु जब अपनी दशा देखते हैं तब मालूम होता है कि हम अप्राप्त वस्तु का, अप्राप्त परिस्थिति का चिन्तन करते हैं तो यह अपने विवेक का अनादर करना हुआ कि नहीं ? जब एक ओर हम यह जानते हैं कि हमें जो चाहिए वह वस्तु के आश्रित नहीं है, व्यक्ति के आश्रित नहीं है, किसी परिस्थिति के आश्रित नहीं है। और सारी सृष्टि में वस्तु, व्यक्ति और परिस्थिति के सिवाय क्या दिखाई देता है आपको ?

तो हमें जो चाहिए वह सृष्टि के आश्रित नहीं है। अब, यह बात अगर आपको जंच जाय, रुच जाय, पसन्द आ जाय तो हमारी दृष्टि में अपने लिए सृष्टि का आर्कषण रह सकता है क्या ?

श्रोता—नहीं रह सकता।

और जब सृष्टि का आर्कषण नहीं रहता तब इन्द्रियाँ अविषय हो सकती हैं कि नहीं ? जब इन्द्रियाँ अविषय होती हैं तब मन निर्विकल्प हो सकता है कि नहीं ? और जब मन निर्विकल्प होता है तब बुद्धि सम हो सकती है कि नहीं ? अब इन्द्रियों का अविषय होना, मन का निर्विकल्प होना, बुद्धि का सम होना-ये हमारे--आपके लिए सम्भव है या नहीं ?

श्रोता—सम्भव है।

स्वामी जी—जब ये सम्भव है तो फिर हमें इसको प्राप्त चाहिए। करना

श्रोता—जरा कठिन बात है।

स्वामी जी-क्या कठिन बात है ?

श्रोता—अभ्यास करने पर भी वृत्ति........।

स्वामी जी—देखिए ! अभ्यास वस्तु के आश्रित होगा कि विना वस्तु के।

श्रोता—वस्तु के।

स्वामी जी—तब यह तो हमारा प्रमाद है न। जिस बात को हम भूल जाते हैं उसका अभ्यास क्या करेंगे ?-यानी आप ज्ञान से अनुभव कर रहे हैं कि हमें जो चाहिए वह किसी वस्तु के, व्यक्ति के, परिस्थिति के आश्रित नहीं है। यह बात ज्ञान से जानते हैं या अभ्यास से ?

श्रोता—ज्ञान से।

तो जो बात ज्ञान से सिद्ध है उसमें अभ्यास की अपेक्षा नहीं और जो बात विश्वास से सिद्ध है उसके लिए भी अभ्यास अपेक्षित नहीं। अभ्यास तो किया जाता है सही काम करने के लिए ! जैसे, हमें रोटी कैसे पकानी चाहिए, उसके लिए अभ्यास होगा। लेकिन जो बात ज्ञान के द्वारा सिद्ध है, विश्वास के द्वारा साध्य है, उस के लिए अभ्यास की कहाँ अपेक्षा है ? ज्ञान क्या शरीर धर्म है ? विश्वास क्या शरीर धर्म है ? बोलो भाई ?

श्रोता—नहीं है।

जो शरीर धर्म नहीं है उसके लिए शरीर की क्या अपेक्षा होगी ?--और शरीर के बिना आप अभ्यास कैसे करेंगे ?

तो अब यह देखना चाहिए आपको कि अपने ज्ञान से क्या सत्य मालूम होता है ? आपको अपने विश्वास से क्या साध्य मालूम होता है ? यह जो विश्वास का तत्व है आप में, यह ज्ञान का जो तत्व है आपमें ........। अभ्यास तो सामर्थ्य के तत्व से न होगा ? जो चीज ज्ञान से साध्य है वह चीज सामर्थ्य से साध्य होगी ?

श्रोता—नहीं।

स्वामी जी—आप हमारे कहने से नहीं-नहीं कहते जाते हैं कि ऐसा वास्तव में अनुभव करते हैं ? विचार करके देखो, जो बात ज्ञान से साध्य है, जो बात विश्वास से साध्य है उसके लिए अभ्यास की अपेक्षा नहीं होगी। अभ्यास की किसके लिए जरूरत है ? जो शरीर से साध्य है, जो योग्यता से साध्य है, जो सामर्थ्य से साध्य है, उसके लिए अभ्यास चाहिए। पर यह बात ठहरती नहीं। क्यों नहीं ठहरती? क्योंकि कि हम अपने द्वारा अपने सत्य को स्वीकार नहीं करते। इसलिए नहीं ठहरती। हमारा सत्य क्या है ? अगर हमें किसी परिस्थिति विशेष की आवश्यकता अनुभव होती है कि शरीर स्वस्थ हो जाय, आवश्यक वस्तु मिल जाय, तो इससे क्या होगा ? कल्पना करो कि शरीर स्वस्थ हो गया तो क्या आपको निर्विकारता प्राप्त होगी ? आवश्यक वस्तु के मिलने से क्या आपको चिरशान्ति प्राप्त होगी ? क्या आपको स्वाधीनता प्राप्त होगी ?

श्रोता—नहीं होगी।

जब इस बात को आप जानते हैं कि निर्विकारता, शान्ति स्वाधीनता, ये आवश्यक वस्तु की प्राप्ति से, शरीर के स्वस्थ होने से सम्भव नहीं है। हाँ ! एक बात कह सकते हैं आप कि शरीर स्वस्थ हो और आपके पास आवश्यक वस्तु हो, तो उसके द्वारा पर-सेवा आप कर सकते हैं। लेकिन निर्विकारता और शान्ति प्राप्त कर सकते हैं क्या ? स्वाधीनता प्राप्त कर सकते हैं क्या ? यदि आपका शरीर स्वस्थ है तो किसी निर्बल के काम आ सकते हैं। अगर आपके पास आवश्यक वस्तु है तो जिसको वस्तु का अभाव हो उसके साथ सहयोग रख सकते हैं। क्या राय है ? तो आवश्यक वस्तु, सामर्थ्य और योग्यता ये सेवा के लिए चाहिए कि निर्विकारता, शान्ति और स्वाधीनता के लिए चाहिए !

अब आप सोचिए कि जो भी वस्तु आपको प्राप्त है, जो भी योग्यता आपको प्राप्त है, जो भी सामर्थ्य प्राप्त है उसके द्वारा सेवा करते हैं कि भोग करते हैं ?

श्रोता—सेवा होती नहीं।

श्री स्वामी जी—यह हम नहीं पूछते। आप करते क्या हैं ?

श्रोता—भोग ही करते हैं।

अब देखिए,साफ मालूम हो गया कि हमें जो सेवा-सामग्री प्राप्त है, उसके द्वारा सेवा करते नहीं, उसके द्वारा करते हैं भोग। जब हम सेवा-सामग्री को भोग-सामग्री बना देते हैं तो उसी का परिणाम यह होता है कि हम मोह में और आसक्ति

में आबद्ध हो जाते हैं। मोह में आबद्ध होने से और आसक्ति में आबद्ध होने से चैन मिलता है क्या ? तो अपनी दशा के अध्ययन से हम इस बात का ठीक-ठीक अनुभव कर सकते हैं कि हमारे पास जो कुछ है वह सेवा सामग्री है। जब सेवा-सामग्री है तो हमारा जीवन समाज के काम आना चाहिए। जब हमारा जीवन समाज के काम आएगा तो समाज की सामर्थ्य क्या हमारे काम नहीं आएगी ?

श्रोता—आएगी।

क्या काम आयेगी ? सोचिए जरा ! शरीर को बनाये रखने में सहायता करेगी। क्या समाज में कोई ऐसी शक्ति है जो हमारे और आपके शरीर को नाश न होने दे ?

श्रोता—नहीं है।

तात्पर्य क्या निकला कि अगर आप समाज की सेवा करेंगे तो समाज आपके शरीर की यथा शक्ति सेवा करेगा। लेकिन न तो आप में यह सामर्थ्य है कि आप समाज के सारे दुःख का नाश कर सकें और न समाज में यह सामर्थ्य है कि आपके शरीर को अमर बना सके।

तो मैं यह निवेदन कर रहा था कि फिर भी हम सोचें कि हम सेवा के बदले में शरीर को अमर बनाना चाहते हैं, सेवा के बदले में हम सर्व-दुःखों की निवृत्ति करना चाहते हैं, यह हो सकता है क्या ?

श्रोता—नहीं हो सकता।

लेकिन एक बात है कि सेवा के द्वारा हम भोग की रुचि का नाश कर सकते हैं कि नहीं ? सेवा के द्वारा सुख-भोग की

रुचि का नाश हो सकता है कि नहीं ? जब भोग की रुचि का नाश होगा तब आपको स्वतः योग प्राप्त होगा। जैसे भोग की रुचि, मोह और आसक्ति में आवद्ध करती है,वैसे ही योग हमें बोध और प्रेम से अभिन्न करता है। अगर यह बात आपको अपनी बात मालूम हो, अपना सत्य मालूम हो कि भाई, सेवा से भोग की रुचि का नाश होगा और भोग की रुचि के नाश होने से हमको योग प्राप्त होगा और योग प्राप्त होने से बोध और प्रेम प्राप्त होगा। तो इसे स्वीकार कीजिए। इसीको कर्मयोग कहते हैं। इसी को कर्तव्य-पथ कहते हैं। ऐसे ही विचार के द्वारा भोग की रुचि का नाश होगा और उसके द्वारा भी योग, वोध और प्रेम की प्राप्ति होगी। इसी प्रकार शरणागति द्वारा भी भोग की रुचि का नाश होगा और उसके द्वारा भी योग, बोध और प्रेम की प्राप्ति होगी।

तो, तीन पथ हुए। कर्तव्य-पथ से भी योग, बोध, प्रेम की प्राप्ति हो सकती है, विचार-पथ से भी योग, बोध, प्रेम की प्राप्ति हो सकती है और विश्वास-पथ से भी योग, बोध, प्रेम की प्राप्ति हो सकती है। अब आपको कौन-सा पथ अभिष्ट है, यह आप स्वयं निर्णय करेंगे। वैसे तो तीनों रहेंगे। कर्तव्य-पथ में भी विचार रहेगा, विश्वास रहेगा। विचार-पथ में भी विश्वास और कर्तव्य रहेगा, और विश्वास-पथ में भी कर्तव्य रहेगा, विचार रहेगा। अब यह आरम्भ की बात है कि आपने सेवा के द्वारा भोग की रुचि का नाश करने का प्रयास किया या विचार के द्वारा या विश्वास के द्वारा अथवा तीनों के द्वारा। इसमें आप स्वाधीन हैं। क्योंकि तीनों का जो फल है वह एक है, तीन फल नहीं हैं। कर्तव्य-पथ से जिस योग की प्राप्ति होती है, उसी योग की प्राप्ति विचार-पथ से होती है। उसी योग

की प्राप्ति विश्वास-पथ से होती है। योग एक मौलिक तत्व है।

योग का अर्थ क्या है? जो सदा है, सर्वदा है, सर्वत्र हैं, उसके साथ मिलना, उसके साथ मिलन का नाम योग होता है। और कभी है, कभी नहीं है, कहीं है कहीं नहीं है--उसके साथ मिलने से भोग होता है। जो कहीं है कहीं नहीं है वह तो आपको जानने में आता है। लेकिन जो सदैव है, सर्वत्र है वह आपके जानने में नहीं आता, वह सुनने में आता है। कोई कहता हैं परमात्मा सदैव है, सर्वत्र है, सभी का है, समर्थ है, और अद्वितीय है। तो यह जो विश्वास है आपका कि परमात्मा सभी का होने से अपना है, सदैव होने से अभी है, सर्वत्र होने से अपने में है, समर्थ है ओर अद्वितीय है। इस विश्वास का प्रभाव आपके जीवन पर क्या पड़ा? क्या आपने परमात्मा से भिन्न को अपना मानना वन्द कर दिया?

श्रोता—नहीं किया।

तो इसका अर्थ क्या हुआ कि आपने विश्वास का अनादर कर दिया। अच्छा, जो सदा के लिए नहीं है क्या उसको आपने नापसन्द कर दिया? नहीं, तो आपने विचार का अनादर कर दिया और जो दूसरों के लिए है उसको आपने दूसरों की सेवा में लगा दिया?

श्रोता—नहीं।

तो यह कर्तव्य का अनादर कर दिया। आप स्वयं अपनी मर्जी से ही कर्तव्य-पथ का अनादर करते हैं। अपनी मर्जी मे ही विचार-पथ का अनादर करते हैं। अपनी मर्जी से ही विश्वास-पथ का अनादर करते हैं। कोई दूसरा आपसे अनादर कराता हो, ऐसा मैं नहीं मानता हूँ।

तो सबसे पहली बात क्या हुई ? कि हम सत्पथ का अनादर नहीं करेंगे। यानी कर्तव्य से अपने को नहीं बचायेंगे, विचार से अपने को वंचित नहीं रखेंगे, विश्वास से अपने को रहित नहीं करेंगे। यही तो सत्पथ है—तीनों दृष्टियों से। अगर यह बात आपको जंच जाए, रुच जाय, पसन्द करलें कि मैं कर्तव्य पथ का अनादर नहीं करूंगा, विचार-पथ का अनादर नहीं करूंगा, विश्वास-पथ का अनादर नहीं करूंगा, अर्थात् सत्पथ का अनादर नहीं करूंगा। अब मैं आपसे क्या निवेदन करू ! मन, वाणी, कर्म से बुराई-रहित होने पर कर्तव्य-पथ सिद्ध हो जाता है। मेरा कुछ नहीं है, मुझे कुछ नहीं चाहिए, मुझे अपने लिए कुछनहीं करना है—इस बात के मानने से विचार-पथ सिद्ध हो जाता है। प्रभु से भिन्न कोई और अपना है नहीं, हो सकता नहीं, होगा नहीं—इस बात को मानने से विश्वास-पथ सिद्ध हो जाता है। अब आप किस पथ से सिद्धि पाना चाहते हैं,—इसका निर्णय आप स्वयं कर लीजिए। आपके करने वाली बात को दूसरा कोई नहीं कर सकता। दूसरा आपके सत्य का समर्थन कर सकता है, कोई नया सत्य आपके सामने नहीं रख सकता। तो मन, वाणी, कर्म से बुराई रहित होने का व्रत आपको धर्मात्मा बना देगा, कर्तव्य-निष्ठ बना देगा। ज्ञान-पूर्वक निर्मम निष्काम होने का व्रत आपको ज्ञान-योगी बना देगा, और श्रद्धा-विश्वास पूर्वक प्रभु के अस्तित्व को, महत्व को स्वीकार करने का व्रत आपको विश्वास-पथ का साधक बना देगा। और तीनों साथ लेकर चलो तो बहुत अच्छा। क्योंकि जीवन तो एक है, तुम भी एक हो। साधक भी एक। साध्य भी एक। साधना का ही यह विस्तार है।

धर्मात्मा होकर, जीवन-मुक्त होकर, प्रेमी होकर आपको

वही जीवन मिलेगा जो किसी भी ऋषि-मुनि, पीर-पैगम्बर को मिला है। लेकिन भाई, धर्मात्मा होना पड़ेगा, जीवन-मुक्त होना पड़ेगा, भगवद्-भक्त होना पड़ेगा। अगर धर्मात्मा होने से इन्कार करो, मुक्त होने से इन्कार करो, भक्त होने से इन्कार करो, तो कैसे प्राप्त होगा? तो आप पहले सोचिए कि आपने क्या तय किया है तीनों में से। कि धर्मात्मा होकर ही रहूँगा, मैं जीवन-मुक्त होकर ही रहूँगा, मैं भगवद्भक्त होकर ही रहूँगा! इसमें कठिनाई कुछ नहीं है। बुराई छोड़ दी तो धर्मात्मा हो गये। मेरा कुछ नहीं है-यह जान लिया तो जीवन मुक्त हो गये। प्रभु अपने हैं-यह मान लिया तो भक्त हो गये। कठिनाई कुछ नहीं है। तीनों सुलभ हैं, तीनों सम्भव हैं। तो जिस प्रभु ने हमें यह स्वाधीनता दी है कि हम धर्मात्मा होकर, जीवन-मुक्त होकर, भगवद्-भक्त होकर उस जीवन को प्राप्त कर सकते हैं जो कभी भी, किसी भी ऋषि-मुनि, पीर-पैगम्बर को मिला है, उस प्रभु की महिमा गाओ।

# ६

## ( अ )

जीवन का सत्य क्या है ? स्मृति और प्रियता में जीवन है। स्मृति और प्रियता की आवश्यकता अनुभव करने मात्र से भोग की रुचि का नाश होता है जिसके होने से योग की प्राप्ति होती है, योग से बोध और बोध से प्रेम मिलता है।

भोग की रुचि का नाश तथा योग, बोध प्रेम की अभिव्यक्ति सत्संग से सिद्ध होती है। सत्संग मनुष्य का स्वधर्म है। स्वधर्म पालन से जीवन पूर्ण होता है।

**प्रवचन :**

योग-बोध-प्रेम की प्राप्ति ही मानव-मात्र का अपना लक्ष्य है। देखिए, यहाँ एक बड़ी गम्भीर वात है। भौतिक विज्ञानी हो, भौतिक वादी हो--अगर ईमानदार है तो योग से इन्कार नहीं कर सकता। और ऐसे ही कोई अध्यात्मवादी हो, तो बोध से इन्कार कर सकता है क्या ? और ऐसे ही आस्थावान हो तो प्रेम से इन्कार कर सकता है क्या ? अथवा यों कहिए कि योग से, बोध से प्रेम से कोई भी इन्कार नहीं कर सकता। प्रेमास्पद को हम नहीं मानेंगे। पर प्रेम तो अपने को चाहिए, क्योंकि प्रेम में रस है। आत्मा शब्द को नहीं मानेंगे। लेकिन बोध तो हमको चाहिए, क्योंकि बोध में जीवन है। और भाई, हम संसार से ऊपर किसी वस्तु को नहीं मानेंगे। पर योग को तो मानना ही पड़ेगा, क्योंकि सामर्थ्य चाहिए, शान्ति चाहिए। योग जो है यह सामर्थ्य और शान्ति का प्रतीक है। बोध जो है यह जीवन का प्रतीक है। प्रेम जो है वह रस का प्रतीक है। अव वताइये, शान्ति की मांग अमर जीवन की मांग, रस-रूप जीवन की मांग किसको न होगी ! कौन इन्कार करेगा ! इसलिए मैं आपसे यह नवेदन करता हूँ कि मानव किसी भी सम्प्रदाय अथवा मत को मानने वाला हो, मानव होने के नाते जो जीवन का सत्य है वह सबको ही अभीष्ट होता है।

सभी को योग चाहिए, सभी को बोध चाहिए, सभी को प्रेम चाहिए। योग के विना सामर्थ्य और शान्ति नहीं मिलती। बोध के विना अमरत्व प्राप्त नहीं होता। प्रेम के विना रस-रूप

जीवन की अभिव्यक्ति नहीं होती। तो शान्ति और शक्ति भी चाहिए, अमरत्व भी चाहिए, रस-रूप जीवन भी चाहिए। क्या यह मांग किसी मत विशेष से सम्बन्ध रखती है ? क्या यह माँग किसी सम्प्रदाय विशेष से सम्बन्ध रखती है ? क्या यह मांग किसी व्यक्ति-विशेष से सम्बन्ध रखती है ? अथवा मानवमात्र से सम्बन्ध रखतो है ?

श्रोता—मानवमात्र से।

तो जो चीज मानव-मात्र से सम्बन्ध रखती है उससे हमें कभी निराश होना चाहिए क्या ? उससे तो कभी निराश नहीं होना चाहिए। जो चीज मानवमात्र से सम्बन्ध रखती है उससे कभी किसी को निराश नहीं होना चाहिए। अतः योग से, बोध से, प्रेम से कभो किसी को निराश नहीं होना चाहिए।

जब हम योग-बोध-प्रेम से निराश नहीं होते, तो योग की मांग से भी वोध और प्रेम प्राप्त होता है। बोध की मांग से भी योग और प्रेम प्राप्त होता है, और प्रेम की मांग से भी योग और वोध प्राप्त होता है। यह भो बड़ी विलक्षणता है। अब आप स्वतन्त्र हैं इस बात में कि चाहे केवल योग की आवश्यकता अनुभव करें अथवा केवल बोध की आवश्यकता अनुभव करें, अथवा केवल प्रेम की आवश्यकता अनुभव करें। प्रेम से भी दूरी, भेद, भिन्नता नहीं रहती। बोध से भी दूरी, भेद, भिन्नता नहीं रहती। योग से भी दूरी, भेद, भिन्नता नहीं रहती। तीनों की एक साथ आवश्यकता अनुभव करें तो भी कोई बात नहीं। तीन में से किसी एक की आवश्यकता अनुभव करें तो भी कोई बात नहीं। क्योंकि इन तीनों में एकत्व है। जहाँ वास्तविक योग है वहाँ बोध और प्रेम भी

है। जहाँ वास्तविक बोध है, वहाँ प्रेम और योग भी है। जहाँ वास्तविक प्रेम है वहाँ योग और बोध भी है। अगर यह सत्य आपको जंचता हो, रुचता हो, पसन्द आता हो तो इस पर मनन किया जाय, विचार किया जाय और जल्दी-से-जल्दी इस वास्तविक आवश्यकता को अनुभव किया जाय। आवश्यकता अनुभव करने में तो कोई कठिनाई होती नहीं कभी किसी को। पूरी होगी कि नहीं, यह बात अलग है।

तो, आवश्यकता अनुभव करने में कभी किसी को कठिनाई नहीं होती। लेकिन मैं आपसे यह निवेदन करना चाहता हूँ कि कामना के सम्बन्ध में यह कहना बिल्कुल यथार्थ है कि सभी कामनाएं पूरी नहीं होतीं और हर कामना-पूर्ति का सुख नवीन कामना को जन्म देता है, अथवा जो कामना-पूर्ति में रमण करता है उसे कामना-अपूर्ति का अभाव सहना ही पड़ता है। यह तो कह सकते हैं, सब कह सकते हैं, डंके की चोट कह सकते हैं। लेकिन कोई यह नहीं कह सकता कि मांग के पूरे होने से अभाव रह सकता है। क्यों? क्योंकि मांग उससे हमारा सम्बन्ध जोड़ देती है, उससे अभिन्न कर देती है, जो सदा ही सब प्रकार से पूर्ण है। जो अभाव और पराधीनता से रहित है। नीरसता से रहित है। यानी मांग उस अविनाशी-अनन्त तत्व से सम्बन्ध जोड़ती है; कामना इस परिवर्तन-शील, गतिशील, अभावरूप दृश्य से सम्बन्ध जोड़ती है। कामना जो है वह हमारा दृश्य से सम्बन्ध जोड़ देती है और मांग हमारा उस अनन्त से सम्बन्ध जोड़ देती है जो कभी भी दृश्य नहीं है अथवा समस्त दृश्य का प्रकाशक और आधार है। यह दृश्य भी उसी के आश्रय से प्रतीत होता है। अगर उसका आश्रय न हो तो दृश्य की प्रतीति नहीं हो सकती।

इसलिए हमारे गुरुदेव ने बड़ी सुन्दर बात बताई हमको ! कहा कि बेटा देखो,प्रेम की तीन श्रेणियाँ हैं। पहली श्रेणी उन्होंने बताई कि यह जो कुछ है उन्हीं का है। 'उन्हीं का' शब्द बड़ा प्यारा लगता है। इस शब्द का हमारे यहाँ हिन्दू नारी बहुत प्रयोग करती हैं। 'उन्हीं का है' 'वे ही हैं'। हमारे पास चिट्ठियाँ आती हैं लड़कियों की। लिखती हैं—'इन्होंने' ऐसा कहा, 'उन्होंने' ऐसा कहा। इसका अर्थ है कि उनके पति ने कहा। तो यह सब कुछ जो दिखाई दे रहा है, उन्हीं का है। उन्हीं का माने 'अपने' का है। इतनी बात मानने का परिणाम यह होता है कि जिनका यह जो कुछ है, उनसे मेरा नित्य-सम्बन्ध नहीं हो जाता क्या ? क्या राय है ?

श्रोता—हो जाता है।

अच्छा, यह बात सिखाई नहीं गई, यह नहीं कहा गया कि हो जाता है। कह दिया गया कि यह सब उन्हीं का है। गुरु उसे नहीं कहते जो हर चीज सिखाता फिरे। गुरु एक ऐसे सत्य का बोध करा देता है जिसको अपनाने से सब कुछ अपने आप आ जाता है। तो महाराज ! यह सब कुछ उन्हीं का है - इसका अर्थ क्या हुआ कि मेरा नहीं है, किसी गैर का नहीं है। अगर यह बात आप मान लेते हैं कि मेरा नहीं है, किसी गैर का नहीं है तो यह जो कुछ है वह प्यारा लगता है कि अप्रिय लगता है ? अच्छा, इसके प्रभाव से मुक्त होते हैं कि इसमें आबद्ध होते हैं ? बोलो भाई ! देखो, मेरा नहीं है–इसके मानने से तो इसके प्रभाव से मुक्त होते हैं, और किसी गैर का नहीं है–इससे इसके प्रति सद्भाव और प्रियता उदय होती है। तो यह मनुष्य का अपना जीवन है कि वह दृश्य के प्रभाव से

भी मुक्त हो और दृश्य के प्रति सद्भाव और सहयोग भी रखे। पहली बात है यह। यह गत कह देना कि बड़ी कठिन बात है, आखिरी बात है। यह सबसे पहली बात बताई हमें महाराज ने !

दूसरी बात बताई—कहा कि भाई देखो, यह जो कुछ जिसका है—अहा-हा-वह भी इसमें है। वह इसमें 'भी' है, इसमें 'ही' नहीं है। यहाँ जरा गम्भीरता से सोचना पड़ेगा। कहना पड़ेगा कि वह भी इसमें है, अर्थात् इसमें भी है। अब विचार कर देखो, अपना कहीं दिखाई देता हो, अपना कहीं भासता हो, तो हृदय में प्यार उमड़ता है कि नहीं? अवश्य उमड़ता है। तो हृदय में प्यार जग जाता है। अरे! हमारी परम्परा में, जिसमें मैं, शिष्य रहा हूँ। उसमें एक महात्मा थे। वे हर किसी को 'नारायण' करके सम्बोधन करते थे—'आओ नारायण।' कोई आर्य समाजी आये तो, आओ आर्य-समाजी नारायण। कोई सनातनी आये तो—आओ सनातनी नारायण। आओ जैनी नारायण। आओ हिन्दू नारायण। आओ मुसलमान नारायण। आओ ईसाई नारायण। इस तरह कह कर सम्बोधन करते थे। उनकी बड़ी भारी निष्ठा इस बात में थी कि 'निज-प्रभु-मय देखें जगत।' 'निज-प्रभु-मय देखें जगत, कहि संग करें विरोध।' उसके हृदय में विरोध नहीं रहता। समता की गंगा लहराती है। उदारता की गंगा लहराती है। प्रियता की गंगा लहराती है। विरोध नहीं रहता। जहाँ विरोध नहीं है वहां समता है, उदारता है, प्रियता है। तो मैं आपसे निवेदन करता हूँ कि जब इस सद्भाव से प्रीति का प्रभाव और बढ़ता है, और बढ़ता है, तब आखिरी बात महाराज ने कही कि भैया देखो, फिर 'वे ही हैं, सब

नहीं हैं। उसी जीवन का नाम है 'ज्ञान-विज्ञान तृप्तात्मा'—हमारी राय में। उसी जीवन का नाम है—राधा और कृष्ण का विहार। उसी जीवन का नाम है—'सीता-राम का विहार' 'गौरी-शंकर का विहार'। अगर यह बात आपको जंचती हो, रुचती हो तो इस गुरु-वाक्य पर ध्यान दो कि 'सब कुछ उन्हीं का है। वे सबमें भी हैं, सबसे परे भी हैं। वास्तव में वे हीं हैं और कुछ है ही नहीं, होगा नहीं, हो सकता नहीं।' उन्हीं से हमारा 'मैं' योग होकर, वोध होकर, प्रेम होकर अभिन्न हो सकता है। यह जीवन का सत्य है। अगर आप चाहें तो इस सत्य को स्वीकार कर बड़ी सुगमता पूर्वक साधन-निष्ठ हो जाएं।

अब जो चर्चा आपकी सेवा में निवेदन की, इस चर्चा में किसी को किसी प्रकार का विकल्प उठता हो, सन्देह होता हो तो उसे प्रकट करो। बुद्धि-जन्य जो सन्देह होगा, उसका बुद्धि-जन्य समाधान भी हो जायगा। किसी ने एक बार हमसे कहा—"तुम परमात्मा को सिद्ध कर सकते हो?" हमने कहा कि अगर परमात्मा के न होने की आप दस दलीलें करेंगे, तो उसके होंने की हम ग्यारहवीं कर देंगे। क्योंकि सन्देह अगर आप करेंगे, सन्देह तो बुद्धि-जन्य ही होता है। तो निस्सन्देहता के लिए भी बुद्धि काम करती है। इसमें कोइ विकल्प नहीं है मुझे। तो, मैं आपसे यह निवेदन कर रहा था कि क्या आज हम और आप इस मानवीय सत्य का आदर करेंगे? इसे अपनायेंगे? यदि अपनायेंगे, आदर करेंगे तो आप जानते हैं। मानव- - आ! हा!! हा!!! मानव उसे नहीं कहते जो जगत और जगदाधार को प्यारा न लगे। 'सर्व-प्रिय' मानव का ही नाम है। मानव जगत को भी

प्यारा लगता है, क्योंकि उदार होता है, स्वाधीन होता है और परमात्मा को भी प्यारा लगता है, क्योंकि प्रेमी होत है। इसलिए मानव माने जो सभी को प्यारा लगे ऐसा जीवन जो सभी के लिए प्रिय है, मानव-मात्र को अभीष्ट है और मिल सकता है। यह बात मुझे प्रेरणा हुई, मैंने आपकी सेवा में निवेदन कर दी। अब कोई संकल्प--विकल्प करो, सन्देह करो !

श्रोता--सन्देह तो नहीं है, एक बात खुलासा करानी है कि आपने कहा उदारता भी अविनाशी तत्व है, स्वाधीनता भी अविनाशी तत्व है प्रेम भी अविनाशी तत्व है और मानव भी अविनाशी तत्व है तो अविनाशी तत्व तो परमात्मा ही है। ये चार-पांच होते हैं क्या ?

स्वामी जी—पांच नहीं होते। ये तीन गुण मानव में होते हैं, मानव में यह ईश्वर-प्रदत्त होते हैं; परमात्मा में स्वरूपजन्य होते हैं। मानव उदार है तो हमारे प्रभु परम उदार हैं। मानव स्वतन्त्र है तो प्रभु परम-स्वतन्त्र है, मानव प्रेमी है तो प्रभु प्रेम के भंडार हैं। जैसे देखो न, एक लहर में जो जल होता है तो सागर में भी तो जल ही होता है। सागर में कोई ऐसी चीज नहीं होती जो लहर में नहीं है। लेकिन लहर में जहाज नहीं चलता, सागर में चलता है। इतना फर्क है। मानव में और परमात्मा में कोई अगर भेद स्थापित करे तो--'स्वरूप की एकता, गुणों की भिन्नता'-- ऐसा है। और किसी के मन में कोई बात उठती हो ? लहर और सागर में जल ही जल है। जल न लहर है, न सागर है। ऐसे ही सत्ता रूप में परमात्मा ही परमात्मा है। चाहे उसको जगत ईश्वर कहो, चाहे मत कहो।

पर ऐसी बात आजकल लोग बरदाश्त नहीं करेंगे, ईश्वरवादियों की तो छाती फट जायगी। परमात्मा को परमात्मा न कहने से भी परमात्मा ही प्राप्त होता है ।

देखो ! दुनिया का सबसे बड़ा आदमी वह होता है जो अपनी दृष्टि में जैसा है वैसा ठीक-ठाक अनुभव करले। दूसरों की दृष्टि में अच्छा कहलाना कोई विशेष महत्व की बात नहीं है। क्यों नहीं है ? कि यह तो आप जानते ही हैं कि सर्वांश में तो को॰ बुरा होता नहीं कभी। और ऐसा देखा गया है कि जो कोई अपने को आदर देता है, सम्मान देता है, प्यार देता है, सुविधा देता है—वह हमें बहुत अच्छा मालूम होता है। लेकिन हम अपनी दृष्टि में कैसे हैं, यह देखने की बात है ? जैसे साधक की दृष्टि से क्या सही अर्थ में हम स्वाधीन हैं ?— यह देखना चाहिए। प्रेमी हैं ?, उदार हैं ?, अगर अपनी दृष्टि में हम उदार हैं, स्वाधीन हैं, प्रेमी हैं तो संसार की दृष्टि में कुछ भी हों, कोई चिन्ता की बात नहीं है। लेकिन हम अपनी दृष्टि में हों अनुदार, पराधीन, आसक्ति में आबद्ध ! क्योंकि प्रेम नहीं होगा तो आसक्ति होगी, यह नियम है। स्वाधीन नहीं होंगे तो पराधीन होंगे। ऐसा नहीं हो सकता है कि स्वाधीन नहीं है तो पराधीन न हों। पराधीन होंगे ही। उदार नहीं होंगे तो अनुदार होंगे, स्वार्थ भाव में डूबे होंगे। स्वार्थ-भाव, आसक्ति में आबद्ध, पराधीन, यह जरूर होगें ।

तो हम अपनी दृष्टि में कैसे हैं, इस पर विचार करना चाहिए। यह नहीं सोचना चाहिए कि हम तो बहुत बुरे हैं। देखकर एकदम से घबरा न जाएं कि अरे ! हम तो बड़े मलीन हैं। ऐसा न करें । क्योंकि; घबराएगा तो सुपर ईगो

जो होता है। (Super-ego)सुपर ईगो अंग्रेजी में कहते हैं। क्या कहेंगे उसे हिन्दी में ? साइक्लाजी का टर्म है। इसकी हिन्दी क्या है ?

**श्रोता**—ठीक मालूम नहीं।

कोई वात नहीं। उसका अर्थ यह है कि मनुष्य अपनी दृष्टि में अच्छा रहना चाहता है । अतः तत्काल ही अपने को क्षमा कर देता है कि 'ऐसा नहीं था ऐसा था' । 'इतना नहीं, यह था' इत्यादि। अब समझ में आया कि नहीं ? भाषा समझ में आई आप लोगों के ? तो पहले अपनी तस्वीर देखनी चाहिए। देखो ! उदार स्वाधीन और प्रेमी होने के लिए बहुत-सा समय नहीं चाहिये। वहुव सी सामर्थ्य नहीं चाहिए। कोई परिस्थिति-विशेष नहीं चाहिए। क्योंकि, अगर इसके लिए समय चाहिए, सामर्थ्य चाहिए, परिस्थिति-विशेष चाहिए, तो उसमें फिर सबका हक नहीं होगा। इसीलिए मानव-सेवा-सघ के सिद्धान्त में यह वात बताई गई कि मानव होने के नाते जो जीवन आपको मिल सकता है वह सभी मानवों को मिल सकता है। यह बात समझ में आती है आप लोगों के ?

**श्रोता**—जी।

मिला सकता है मानव होने के नाते। और सामर्थ्य के नाते, योग्यता के नाते, परिस्थिति के नाते हो तो वह सबको नहीं मिला सकता। तो मानव होने के नाते यह तीन ही बातें मिल सकती हैं हमको। हर भाई, हर बहन उदार हो सकती है, स्वाधीन हो सकती है, प्रेमी हो सकती हैं।

यह उदारता, स्वाधीनता, प्रेम जो है यह मानवमात्र की अपनी निधि है। इससे किसी का नाम नहीं कट सकता। भाई,

जिस किसी को भाषा समझ में न आए तो टोक देना। सूक्ष्म बात है जरा। तो, यह निधि है मनुष्य मात्र की अपनी कि हर भाई को, हर बहन को उदार होना चाहिए। हर भाई को, हर बहन को स्वाधीन होना चाहिए, प्रेमी होना चाहिए। क्यों ? हो सकता है यों। ऐसा नहीं कि हो नहीं सकता। उदार भी हो सकता है, स्वाधीन भी हो सकता है, प्रेमी भी हो सकता है। एक बार मेरे दिल में यह ख्याल पैदा हुआ कि ये सारे लक्षण तो परमात्मा में हैं–परम उदार, परम स्वतन्त्र, परम प्रेम के भण्डार। तो मनुष्य की जो जातीय एकता है वह परमात्मा के साथ है। मनुष्य परमात्मा की जाति का है। शरीर संसार की जाति का है। आत्मा ब्रह्म की जाति का है। ऐसा यदि अलग-अलग कहें तो। आत्मा--ब्रह्म दो चीज नहीं हैं। मनुष्य और परमात्मा की जाति एक है। शरीर और संसार की जाति एक है। तो आत्मा- ब्रह्म,मनुष्य और परमात्मा, यह जो शब्दावली है इसमें थोड़ा सोचना पड़ेगा। वह तो दार्शनिक भाषा है कि तत्व एक ही है। वही आत्मारूप से, वही ब्रह्म-रूप से है। और यह 'मानव' शब्द जो है। तत्व में तो कोई मांग नहीं होती न ! तत्व में मांग नहीं होती और मानव में तो मांग होती है। मानव उदार होना चाहता है, क्योंकि उदारता से उसे रस मिलता है। स्वाधीन होना चाहता है, क्योंकि स्वाधीनता से रस मिलता है। और प्रेमी होना चाहता है, क्योंकि प्रेम से उसे रस मिलता है। तो यह मानव शब्द जो है यह परमात्मा की जाति से मिलता है। और आत्मा शब्द जो है वह ब्रह्म की जाति से मिलता है। और शरीर शब्द जो है वह संसार की जाति से मिलता है अगर आप ब्रह्मवित् होना चाहते हैं तो पहिले आपको आत्मवित् होना पड़ेगा, ऐसा नियम है।

तो, मानव की जातीय एकता परमात्मा के साथ है। जिसके साथ हमारी जातीयता होती है, उसी के साथ नित्य-सम्बन्ध भी होता है और जिसके साथ-नित्य-सम्बन्ध होता है, वह अपना होता है। ये तीन बातें जो बताई गई, आपके सामने रखीं मानव सेवा संघ की प्रणाली नें, कि हे मानव! तुम प्रभु की जाति के हो। उनसे ही तुम्हारा नित्य सम्बन्ध है, वही तुम्हारे अपने हैं। आत्मीयता, नित्य सम्बन्ध और जातीयता। यह वैष्णव-धर्म का सार सर्वस्व है। वैष्णव-धर्म जो है उसका यह सार-सर्वस्व है। क्योंकि वे भगवान के साथ दास्य भाव से, सहज भाव से, वात्सल्य भाव से, मधुर भाव से, सम्बन्ध जोड़ते हैं। 'मैं प्रभु का नित्य सखा हूँ'। 'मैं प्रभु का नित्य दास हूँ।' 'मैं प्रभु की नित्य प्रिया हूँ।' इस प्रकार का जो नित्य-सम्बन्ध स्वीकार किया जाता है—यह असल में वैष्णव धर्म है। आपने बल्लभ-सम्प्रदाय के लोगों से सुना होगा। वे कहते हैं कि पहले शरणागति ले लो। फिर ब्रह्म-सम्बन्ध ले लो। सुना होगा आप लोगों ने। ब्रह्म-सम्बन्ध होता है बल्लभ-सप्रम्दाय में। तो परमात्मा और मनुष्य इन दोनों में जातीय एकता है। इसीलिए वहाँ सेवा की प्रधानता है। बल्लभ सम्प्रदाय में सेवा की प्रधानता है, उपासना की प्रधानता नहीं है, चिन्तन की प्रधानता नहीं हैं। सेवा की प्रधानता है कि तुम भगवान को किस-किस प्रकार से, कैसी-कैसी सेवा करते हो, कैसे खिलाते हो, कैसे पिलाते हो आदि। असल में यह बल्लभ-सम्प्रदाय का सार-सर्वस्व है। एक बार हम नाथद्वारा में ठहरे हुए थे। तो वहाँ लोगों ने 'शरणागति तत्व' किताब पढ़ी तो यह कह दिया कि इस पर अगर गोस्वामी जी का नाम लिख दिया जाय कि बल्लभ-कुल के गोस्वामी जी ने लिखी है, तो आज लाखों की

संख्या में बिक जाय। क्योंकि उस सम्प्रदाय का बहुत प्रचार है उधर।

तो, मैं यह निवेदन कर रहा था कि मनुष्य की जातीय एकता है—परमात्मा के साथ। और आत्मा की जातीय एकता है ब्रह्म के। और शरीर की जातीय एकता है संसार के साथ। इसलिए शरीर के द्वारा आप किसी-न-किसी सत्-कार्य को ही कर सकते हैं, परमात्मा को, ब्रह्म को नहीं पकड़ सकते। यह शरीर ब्रह्म –प्राप्ति का साधन नहीं है। यह शरीर संसार की सेवा का साधन है। तो, वह कब होगी ? जब आप उदार हों। उदार कब होंगे ? जब प्रभु के नाते सबको अपना मानें, और उदार होने के लिए कोई विशेष योग्यता नहीं चाहिए। परमात्मा के नाते सभी अपने हैं, यह बात अगर आपको जंच जाय तो आप उदार हो सकते हैं। ऐसे ही अगर आप इस बात को मानें कि मेरा और संसार का कोई सम्बन्ध ही नहीं है तो आप स्वाधीन हो सकते हैं। और प्रभु से मेरा नित्य-सम्बन्ध है, आत्मीय-सम्बन्ध है-तो आप प्रेमी हो सकते हैं। मूल में सत्य तो तीन ही बातें हैं–संसार से मेरा कोई सम्बन्ध नहीं है, प्रभु से मेरा नित्य-सम्बन्ध है; और शरीर और संसार में अविभाज्य सम्बंध है। मेरा सम्बन्ध नहीं है, लेकिन शरीर और संसार का अविभाज्य सम्बन्ध है। अगर यह सत्य आदमी मान लेता है तो, शरीर के द्वारा संसार के काम आता है। कैसे ?-बुराई रहित होकर। और कोई उपाय नहीं है काम आने का। मन से, वाणी से, कर्म से जो बुराई-रहित होगा, वह संसार के अपने आप काम आ जायगा। संसार को जो चाहिए, वह यही एक चीज चाहिए, कि उसको ऐसा साथी चाहिए जिसमें बुराई न हो।

बुराई का अर्थ क्या है ? जो सुख का लोलुप न हो।

सुख-लोलुप को कहते हैं बुरा। बुराई का मूल है सुख-लोलुपता। मनुष्य अपनी सुख-लोलुपता से प्रेरित होकर ही दुराचार करता है, व्यभिचार करता है, चोरी करता है, बदमाशी करता है, संग्रह करता है। यानी जितने दोष पैदा होते हैं, सब सुख-लोलुपता से पैदा होते हैं। और यह सुख-लोलुपता जो है यह पशुता है, यह मानवता नहीं है। जैसे एक पशु अपने सुख के लिए ही जीता है। वह दूसरे का हित नहीं जानता किसे कहते हैं। अपने सुख के लिए जीता है या अपनी सीमा के भीतर जो उसको सुख के साधन मालूम देते हैं, जैसे माता-पिता, भाई-बहिन। भाई-बहिन का मालूम नहीं, माता-पिता का सम्बन्ध तो रहता है पशुओं में। भाई का रहता है या नहीं हमें नहीं मालूम। हाँ शहद की मक्खी वगैरह में जाति का रहता है। वे जाति भर के लिए संग्रह करती हैं, अपने लिये नहीं। अतएव बुराई का मूल है सुख-लोलुपता और सुख-लोलुपता क्या है? इसको जरा अच्छे दृष्टि-कोण से देखा जाय तो सुख-लोलुपता का अर्थ है—पराधीनता को सहन करना। किसी प्रकार की भी अगर हम पराधीनता सहन करते हैं तो यह सुख-लोलुपता है। और पराधीनता को सहन कौन करता है, जो सभी के लिए उदार नहीं होता, जो स्वाधीन नहीं होता, जो प्रेमी नहीं होता।

## ६

## ( ब )

प्रायः सभी साधकों का यह अनुभव है कि जब वे शान्त रहना चाहते हैं तो उनके मन में उठने वाला व्यर्थ चिन्तन उनको बाधा पहुँचाता है। इस व्यर्थ चिन्तन का नाश करना साधक मात्र के लिए अनिवार्य है। प्रस्तुत प्रवचन में इस मनोवैज्ञानिक तथ्य पर प्रकाश डाला गया है कि व्यर्थ चिन्तन को किसी सार्थक चिन्तन से दबाकर उसका नाश नहीं किया जा सकता।

जीवन में जब रस घटता है तब व्यर्थ चिन्तन बढ़ता है। उदारता, स्वाधीनता और प्रेम के रस से व्यर्थ चिन्तन का नाश होता है।

(१) किसी न किसी नाते सभी को अपना मानना :

(२) शरीर एवं संसार से सम्बंध तोड़ कर अकिंचन अचाह एवं अप्रयत्न होना :

(३) प्रभु को अपना मान कर प्रेम से अभिन्न होना, नीरसता के नाश के उपाय हैं।

(४) प्रेम रस की मधुरता में व्यर्थ चिन्तन सदा के लिए मिट जाता है।

—•—

**प्रवचन :**

अनुदार पुरुष ही पराधीनता पसन्द करता है। सुख लोलुपता कहो, पराधीनता कहो एक ही बात है। जैसे बोलने से जो रस मिलेगा वह मुझे चाहिए, इसलिए मैं ऐसी वाणी चाहता हूँ कि बोलने की शक्ति का कभी ह्रास न हो। पर ऐसा है नहीं। शरीर द्वारा जितना-जो-कुछ हो सकता है उसमें शक्तिहीनता अवश्य ही आती है। इसलिए शरीर द्वारा अपने सुख का सम्पादन मत करो, अपनी रुचि की पूर्ति मत करो, अपितु समाज की मांग पूरी करो। समाज की मांग है कि हम मन से, कर्म से, वाणी से बुराई रहित हों, जिससे कि हम भले हो जाएं। भले होने से हमसे भलाई होने लगेगी। यही समाज की मांग है। देखिये, भलाई करके कोई भला नहीं होता, भला होकर के भलाई करता है। यह एक वैज्ञानिक तथ्य है। पहले हम भले होंगे, पीछे हमसे भलाई होगी। तो हम अपनी दृष्टि में भले हैं या नहीं, इस बात को सामने रखना चाहिए। हम अपनी दृष्टि में स्वाधीन हैं या नहीं, इस बात को अपने सामने रखना चाहिए। हम अपनी दृष्टि में प्रेमी हैं कि नहीं, इस बात को अपने सामने रखना चाहिए। अब किसी को कोई तर्क उठता हो, तो इसी सम्बंध में बात कर सकते हैं।

हम अपनी दृष्टि में प्रेमी हैं कि नहीं, भले हैं कि नहीं, स्वाधीन हैं कि नहीं!

श्रोता—महाराज जी! हमारी दृष्टि इतनी ऊँची नहीं है।

स्वामी जी—ऊँची-नीची से काम नहीं बनेगा। आप वाचक ज्ञान भूल जाओ। मैं आपसे यह निवेदन करना चाहता हूँ कि आपके पास दृष्टि है। है न? परमात्मा में भी आस्था आप ही करते हो, परमात्मा थोड़े ही कहता है कि मैं आस्था देता हूँ अपनी तुम्हें। और सन्त में श्रद्धा आप ही करते हो और धर्म मे आस्था भी आप ही करते हो। बात ऊँची और नीची दृष्टि की नहीं है। हम अपनी दृष्टि मे कैसे हैं, इस बात को देखना चाहिये। दो ही बातें हो सकती हैं। या तो उदार होंगे अथवा अनुदार होंगे। स्वाधीन होंगे या पराधीन होंगे। प्रेमी होंगे अथवा आसक्ति में आबद्ध होंगे। इसमें तो संशय की कोई बात ही नहीं है। अगर हम प्रेमी नहीं हैं तो आसक्त हैं। आसक्ति प्रेम का दूषित रूप है। अन्तर इतना होता है कि प्रेम में तो प्रिय को रस देने की बात होती है। और आसक्ति में अपने में सुख लेने की बात होती है। इसलिए, आपने देखा होगा कि जो लोग भले हो जाते हैं, उनके द्वारा भलाई होने लगती है। भलाई होने पर समाज की ओर से उनके प्रति जो सम्मान आता है, आदर आता है, सुविधा आती है उसका वे भोग करने लगते हैं। जिससे वे फिर पराधीन हो जाते हैं। यह गम्भीर बात है कि भला होकर ही मनुष्य पराधीन होता है, बुरा होकर पराधीन नहीं होता।

श्रोता—भला होकर ही पराधीन होता है?

स्वामी जी—तुम जब भले हो जाओगे, तो तुम से भलाई होगी। लोग कहेंगे कि अमुक साहब बड़े अच्छे आदमी हैं। किसी नालायक़ को कोई अच्छा आदमी कहता है क्या? तो भले होना यह पहली बात है। भले होते हैं बुराई छोड़ने से। बुराई छोड़ने से जब भले हो जाते हैं तो हमसे भलाई स्वतः

होने लगती है। परन्तु जब भलाई का सुख भोगने लगते हैं तो फिर पराधीन हो जाते हैं। इसलिए तीनों चीजें चाहिए जीवन में। हम अपनी दृष्टि में भले भी हों, स्वाधीन भी हों और प्रेमी भी हों। भले कहो चाहे उदार कहो, एक ही बात है।

तो, मैं आपसे यह निवेदन कर रहा था कि इस बात को बड़ी ही गम्भीरता से, धीरज के साथ हर भाई को हर बहन को यह देखना चाहिए कि हम अपनी दृष्टि में कैसे हैं। अब जैसे, मान लीजिए, यह शरीर छूटने वाला है, छूटते तो सभी शरीर हैं। पर इसके लक्षण ऐसे हैं कि जल्दी छूट जायगा। तो अब आप लोगों को जो भय होता है, वह क्यों होता है ? उसके मूल में कोई आसक्ति है। आसक्ति क्यों है ? क्योंकि हमने सुख लिया है, दिया नहीं है। अरे भाई ? स्वामी जी नहीं रहेंगे तो संस्था नहीं चलेगी ? क्यों भाई, क्यों नहीं चलेगी ? जब तुम संस्था के साधक हो ? तो इतना इन्तजाम कौन करेगा, यह सब इतना कौन करेगा ? इसका मतलब है कि तुम सही साधक नहीं हो। नहीं तो संस्था कैसे बिगड़ जायगी। अगर एक भी साधक रहेगा तो संस्था रहेगी और साधक नहीं है तो बिगड़ी ही है। मानव सेवा संघ माने साधकों का संघ। मानव सेवा संघ कोई व्यक्तियों का संघ थोड़े ही है अथवा किसी वर्ग का, किसी मत और सम्प्रदाय का संघ थोड़े ही है !

साधक कौन होता है ? जो भला हो, स्वाधीन हो, प्रेमी हो, अथवा भले होने के लिए, स्वाधीन होने के लिए, प्रेमी होने के लिए अथक प्रयत्नशील हो। अथक प्रयत्नशील हो इस

बात के लिए कि मैं किसी तरह से भला हो जाऊं, जल्दी से जल्दी स्वाधीन हो जाऊं, प्रेमी हो जाऊं। तो बिल्कुल साफ रास्ता दिखाई देता है कि भाई, की हुई बुराई को दुहराओ मत, जानी हुई बुराई करो मत, लो ! हो गये भले। जिस बुराई को कर चुके हो, उसको तो दुहराओ मत और आगे करो मत। जिस बुराई को बुराई करके जानते हो, उसको करो मत। जानी हुई बुराई मत करो, की हुई बुराई मत दुहराओ, भले हो जाओगे। और भाई, भले हो जाओगे तो फिर स्वाधीन कैसे होंगे। बोलो, स्वाधीन भी हो सकते हो। बहुत आसान है स्वाधीन होना भी। कैसे ? कि भाई देखो, अपना वही है जो अपने में हैं और अपने से भिन्न जो कुछ है वह अपना नहीं है। अगर परमात्मा अपना है तो अपने में ही होना चाहिए। अमर जीवन अगर अपना है तो हमको अमर होना चाहिए अगर शान्त जीवन अपना है तो अपने में शान्ति होनी चाहिए। अपना वही है जो अपने में है। अपने से भिन्न की आवश्यकता अनुभव मत करो, स्वाधीन हो गये। और प्रेमी कौन हो सकता है ? जो स्वाधीन हो सकता है वही आगे चलकर प्रेमी हो सकता है। यानी उदार व्यक्ति ही स्वाधीन होता है, स्वाधीन ही प्रेमी होता है। कैसे ? अपने में हैं–श्री हरि। अपने में अपने हरि हैं, इसलिए वे अपने को प्यारे लगने लगते हैं। तो स्वाधीन भी हम हो सकते हैं, प्रेमी भी हो सकते हैं। उदार भी हो सकते हैं। हो तीनो सकते हैं। इसमें यह नहीं है कि नंगे रहोगे या कि हिमालय की कन्दरा में घुसोगे तब होगे। यानी हम जो परिस्थिति बदलने की सोचते हैं तो ये तीनों चीजें परिस्थिति के अधीन नहीं हैं। परिस्थिति तो अपनी सुविधा के लिए बनती है।

श्रोता—स्वामी जी, मूल प्रश्न तो यह उठा था कि अपने

द्वारा अपनें को देखा जाय। यह बात थोड़ी और साफ कीजिए। क्योंकि यदि व्यक्ति ऐसा ही समर्थ होता तो फिर शास्त्र और गुरु की आवश्यकता नहीं होती ?

**स्वामी जी**—मैं आपसे पूछता हूँ कि शास्त्र से अगर व्यक्ति समर्थ होता है तो शास्त्रों की आज कमी है क्या ? या गुरुओं की कमी है ? मैं कहता हूँ आप जाकर देख लो। एक बात सोचो। शास्त्र और गुरु तब फल देता है जब उसमें श्रद्धा हो। शास्त्र में श्रद्धा हो, गुरु की वाणी में श्रद्धा हो, तब तो वह फलित होती है। अगर शास्त्र में श्रद्धा न हो, तो वह फल देता है क्या ? तो श्रद्धा तुम करोगे या शास्त्र तुम्हें श्रद्धा देगा ? नहीं आया समझ में ? डरो मत मेरे नजदीक आओ। इस साल कुम्भ में, मैं गणेशानन्द जी के यहाँ ठहरा था। लड़े अच्छे विद्वान हैं वे। वेदान्त के बड़े प्रखर विद्वान हैं और वेदान्त की ही चर्चा होती हैं उनके यहाँ दिन-रात। तो मैंने उनसे पूछा कि ये जो बात आप कहते हैं कि शास्त्र में लिखा है कि जीव और ब्रह्म एक है–यह आपकी आस्था है या आपका बोध ? तो बोले—आस्था। फिर उन्होंने स्पष्ट रूप से खुल्लम खुल्ला कहा कि शास्त्र· अध्ययन अधिकारी वही है जिसको शास्त्र में विकल्प-रहित आस्था हो। मैं आपसे कहता हूँ कि अपने को देखने का मतलब यह है कि अगर प्रेम नहीं है तो मान ही लो कि आसक्ति है। अगर स्वाधीन नहीं है तो मान ही लो कि पराधीनता है। अगर उदारता नहीं है तो मान ही लो कि स्वार्थ भाव है। मनुष्य अपनी दृष्टि में उदार हुए बिना, स्वाधीन हुए बिना, प्रेमी हुए बिना, आदर के योग्य होता है क्या ? बोलो ?

**श्रोता**—महाराज जी देख नहीं पाते।

**स्वामी जी**—देखते नहीं हैं कि देख नहीं पाते ! मैं आपसे निवेदन करता हूँ कि जिस ज्ञान से उदारता, स्वाधीनता और प्रेम की प्राप्ति होती है वह ज्ञान मनुष्य में मौजूद है। अरे भाई ! स्वाधीन होगा अचाह होने से कि लंगोटी लगा कर घूमने से ? अच्छा, उदार होगा सभी को अपना मानने से कि हिमालय की कन्दरा में घुसने से ? प्रेमी होगा प्रभु को अपना मानने से। अगर परमात्मा को अपना मानेगा तो प्रेमी हो ही जाएगा। अचाह होगा तो स्वाधीन हो ही जायगा। सभी को अपना मानेगा तो उदार हो ही जाएगा।

**श्रोता**—ऐसा लगता है महाराज जी, यह जो ज्ञान है अपने को जानने का, यह प्रखर नहीं होता, जब तक कि गुरु की कृपा न हो।

**स्वामी जी**—यह सब बहाने बाजी है। हम उसका आदर नहीं करते वरना ज्ञान क्या प्रखर होगा ! ज्ञान क्या उसे कहते है जो कभी घटे और कभी बढ़े ? जो कभी रहे, कभी भूल जाय ?

**श्रोता**—यह तो अबकी दृष्टि है महाराज जी।

**स्वामी जी**—पहले की भी दृष्टि यही है। अब देखिए, आप अपने सम्बन्ध में अपने द्वारा विचार करने के सत्य को ठुकराते चले जा रहे हैं।

**श्रोता**—नहीं महाराज जी ! ऐसा नहीं है।

**स्वामी जी**—वह तो मैं जानता हूँ। मेरे कहने से तो नहीं कर रहे। विचार करो। मैं आपसे पूछता हूँ भलाई करना

एक चीज़ है और बुराई छोड़ना ? कामना को पूरा करना एक बात है और अचाह होना ? अच्छा, संसार पर अधिकार जमाना एक चीज है, लेकिन परमात्मा को अपना मानना ? तो क्या उसका नाम भी परमात्मा होगा जो सभी का न हो। बोलो ?

**श्रोता**—यह तो ठीक है।

**स्वामी जी**—जब यह ठीक है तो परमात्मा को अपना मानने से तो हम प्रेमी होते हैं! अचाह होने से हम स्वाधीन होते हैं और सभी को अपना मानने से उदार होते हैं। विचार करके देखो कि हिन्दुस्तान का आदमी हिन्दुस्तान से बाहर अपना भाई मालूम होता है कि नहीं। वही आदमी हिन्दुस्तान में भाई मालूम होता है क्या ? बोलो ? आदमी तो वही है।

गाँधी ज़ी की एक बात याद आ गई। जिसके साथ घटित हुई उसी ने वताई हमको। इन्दौर में हिन्दी साहित्य सम्मेलन के प्रेसीडेन्ट चुन लिये गए थे गाँधी जी। हिन्दी साहित्य के, हिन्दी भाषा के सम्बन्ध में था वह सम्मेलन। तो लेने गये लोग उनको। गाँधी जी थर्ड क्लास में चलते थे। गाँधी जी बैठे थे, साथ में एक मुसलमान भी बैठा था। वह कुछ दुर्व्यवहार कर रहा था। यानी अच्छा व्यवहार नहीं कर रहा था वह मुसलमान। तो वह सज्जन कहने लगे कि मेरे मन में आया कि उसको पीट दूं। उसके मन में ही आई थी यह बात कि पीट दूं, तुरन्त ही बाद गाँधी जी बोल उठे 'अरे भाई, वह नहीं समझता है कि तुम उसके भाई हो, पर तुम तो जानते हो कि वह तुम्हारा भाई है।' समझे आप ! तो वे कहने लगे कि--मुझे बड़ी लज्जा लगी। मैंने

कहा—'बापू, मैं तो पीटना ही चाहता था, आपकी बात न सुनता अगर।' यहाँ लोग सेवा के लिए न जाने क्या-क्या कठिनाई बताते हैं, भागे-भागे फिरते हैं। एक बार गाँधी जी कहीं जा रहे थे ट्रेन में। तो एक आदमी पान खाए और पीक करता जाए। गाँधी जी अखबार पढ़ रहे थे। तो फाड़ें पन्ना, पोंछें और फेंक दें। कई बार उसने ऐसा किया, गाँधी जी भी ऐसा करते रहे। परन्तु उससे कुछ नहीं कहा उन्होंने कि तुम गन्दा क्यों कर रहे हो! समझाने की कोशिश नहीं की उसे। बुरा-भला भी नहीं कहा उसे। और जब वह स्टेशन आ गया जहाँ उन्हें उतरना था; बनारस की बात है या कहीं की। तो प्लेट फार्म से 'महात्मा गाँधी की जय'—'महात्मा गाँधी की जय' की जो आवाज लगी तो पीक थूकने वाले को बड़ी लज्जा लगी कि यह महात्मा गाँधी थे! उस आदमी ने क्षमा-याचना के स्वर में कहा कि मैंने बड़ी गलती की है साहब। उन्होंने कहा 'भाई, नहीं-नहीं, कोई गलती नहीं की है। तुम्हारी आदत थी गन्दगी करने की, और मेरी आदत थी साफ करने की।' तो अपनी दृष्टि में जो आदमी अच्छा होता है न, उससे अच्छाई स्वतः होती रहती है। अब हम अपनी दृष्टि में तो बने रहते हैं कुछ-के-कुछ और दूसरों की दृष्टि में अच्छे कहलाना चाहते हैं, थोड़ी सी अच्छाई के आधार पर। सर्वांश में अच्छे नहीं रहना चाहते। इसलिए यह बात कठिन मालूम होती है। अतएव हमें देखना चाहिए कि हम अपनी दृष्टि में उदार हो पाये या नहीं। यानी भले हो पाए या नहीं। बुराई हमने मन, वाणी, कर्म से छोड़ दी या नहीं। और जब तक अचाह नहीं होंगे, जब तक भगवान् को अपना नहीं मानेंगे, जब तक हम संसार से सम्बन्ध नहीं तोड़ेंगे, तब तक अच्छे होंगे क्या?

श्रोता—नहीं होंगे।

स्वामी जी—कोई उपाय नहीं है, किसी के पास उपाय नहीं है।

तो मैं यह निवेदन कर रहा था कि मनुष्य अपनी दृष्टि में कैसा है, इस बात पर उसे मनन करना चाहिए, चिन्तन करना चाहिए, अध्ययन करना चाहिए। क्या कारण है कि भगवान् मौजूद है और प्यारा नहीं लगता ?–और संसार की स्थिति नहीं है, प्रतीति है, प्राप्ति नहीं है और वह अच्छा लगता है, प्यारा लगता है। यानी जो नहीं है वह प्यारा लगता है, जो है वह अप्रिय लगता है। क्या कारण है ? बोलो ? हमने सही अर्थ में परमात्मा के अस्तित्व को, महत्व को, अपनत्व को स्वीकार नहीं किया। इसलिए परमात्मा प्यारा नहीं लगता। और सही अर्थ में हमने--संसार की स्थिति नहीं है,—इस बात का ठीक-ठीक उसका अनुभव नहीं किया। हमें धर्मात्मा होना अनिवार्य है, इस बात को हमने स्वीकार नहीं किया। इसलिए बुराई नहीं छोड़ी। नहीं तो धर्मात्मा होने में समय थोड़े ही लगता है। जो बुराई हम कर चुके हैं। जानते हैं कि यह हमने की, यह हमने की, यह हमने की–तो मानव सेवा संघ कहता है कि भाई, की हुई बुराई को न दुहराओ तो निर्दोष हो जाओगे। यही तो बताया है ! जी !—कि की हुई बुराई को न दुहराओ तो तुम निर्दोष हो जाओगे। यह उपाय बताया। तो अब तक मैंने चाहे कितने ही पाप किए हैं, कितनी बुराइयाँ की हैं, इस क्षण से कोई बुराई नहीं करूंगा--धर्मात्मा हो गये। अब तक मैंने कितनी ही इच्छाओं की पूर्ति की है। अब मैं इच्छा पूर्ति का सुख नहीं चाहता हूँ–स्वाधीन हो गये। अब तक मैंने परमात्मा

के नाम पर बहुत सी बातें की हैं, लेकिन परमात्मा को अपना नहीं माना है,मैं आज से उन्हें अपना मानूंगा-लो साहब प्रेमी हो गये। देखिए प्रेम तो अपने के साथ ही होता है न ! क्या राय है ? हमको दर्शन देदें, हमको मिल जाएं, हमारी सद्गति करदें। यह तो हमारे हाथ में नहीं है न। यह तो परमात्मा का कर्तव्य हम सोच रहे हैं। परमात्मा हमको शान्ति दें, हमें मुक्ति दें, हमें अपनी भक्ति दें, यह तो परमात्मा का कर्तव्य हुआ। लेकिन किसी और को अपना नहीं मानेंगे हम परमात्मा के सिवाय, इसमें भी हम पराधीन हैं क्या ? बोलो भाई ?

**श्रोता**—महाराज जी, कठिनाई यह मालूम होती है कि सर्वांश में आदमी अपने दोष देख नहीं पाता। मैं अपने बारे मैं कहता हूँ।

**स्वामी जी**—देखिए, आप विषयान्तर चले गये, कितनी बार आवश्यकता होगी देखने की ! गुरूका मिलन एक बार।

**श्रोता**—आवश्यकता तो हुई न महाराज जी।

**स्वामी जी**—मैं आपसे निवेदन करता हूँ, आप विषयान्तर चले गये : मैं क्या कह रहा हूँ, आप अपनी दृष्टि में, वर्तमान में कैसे हैं, यह बताओ हमको। गुरु को जाने दो। भैया ! देखो तुम बहुत गलती करते हो। तुम मानव सेवा संघ की हत्या कर रहे हो। मैं आपसे निवेदन कर रहा हूँ कि गुरु के बिना मेरा उद्धार होगा कि नही होगा--यह रा हमारा विषय ही नहीं है। हम कहते हैं कि गुरु के द्वारा उद्धार नहीं होगा तो गुरु किसके द्वारा प्राप्त करोगे ? क्या अपने द्वारा ? अपने द्वारा कैसे प्राप्त कर लोगे, तुम गुरु से ज्यादा जानते हो क्या ? आप इस बात को भूल जाते हो कि मनुष्य का निर्माण जिस

अनन्त ने किया है उसने मनुष्य को साधन-सामग्री देकर भेजा है। आप भूल जाते हैं यह बात और गुरु की महिमा बीच में ले आते हैं।

मैं यह निवेदन कर रहा हूँ कि मान लीजिए आज हमारे हृदय में उदारता नहीं है, मान लो थोड़ी देर के लिए। स्वार्थ-भाव है, सुख-लोलुपता है। तो क्यों है ? इसलिए है कि हमने सभी को अपना नहीं माना। अथवा इसलिए है कि हम स्वाधीन नहीं हुए, अथवा हम प्रेमी नहीं हुए। स्वाधीन होकर भी मनुष्य उदार और प्रेमी होता है और प्रेमी होकर भी उदार और स्वाधीन होता है। अगर हम स्वाधीन हो जाते तो उदार भी हो जाते और अगर स्वाधीन हो जाते तो प्रेमी भी हो जाते। अब मैं आपसे पूछता हूँ कि स्वाधीन होने के लिए हमें अपनी पराधीनताओं को ही तो देखना पड़ेगा। या कि कहेंगे कि हमें नहीं मालूम और इसके लिए गुरु की तलाश करेंगे ? बाहर से किसी को बुलायेंगे कि हमारा निरीक्षण करो, हममें क्या-क्या पराधीनता है ? दूसरे से पूछने जायेंगे ? दूसरे सिखायेंगे हमको कि क्या-क्या पराधीनता है ? बोलो भाई ? कामना-पूर्ति का सुख हमको अच्छा लगता है—यही तो पराधीनता है। अच्छा, सभी कामनाएं पूरी होंगी नहीं, यह बात आप नहीं जानते हो क्या ? कौन नहीं जानता है ? इसलिए कामना का त्याग होगा स्वाधीनता के लिए और स्वाधीन होने से उदार और प्रेमी होंगे। तो इस तरह से देखने से मनुष्य को सबसे पहले निष्काम होने की प्रेरणा अपने आप मिलती है कि नहीं ?

**श्रोता**— जी।

**स्वामी जी**–गुरु और ग्रन्थ इसका समर्थन कर देंगे। मनुष्य के सत्य का समर्थन गुरु करता है, ग्रन्थ करता है। अच्छा,किसी

नेंकहा कि महाराज ! हम तो बड़े अशान्त हैं,क्या करें। अच्छा, तो अचाह हो जाओ—यह कह दिया किसी सन्त ने और उसने मान लिया श्रद्धा करके कि अचाह होने से शान्ति मिलती है। अचाह हो जायगा, शान्ति मिल जायगी। इसमें क्या बात है। वह तो आपकी बनावट के अनुसार अगर आपको गुरु की जरुरत है तो गुरु मिल जायगा। भीतरी गुरु की जरूरत है तो भीतर मिल जायगा, बाहरी गुरु की जरूरत है तो बाहर मिल जायगा। वह तो सिद्धान्त ही है कि प्रत्येक साधक के साथ जगत की उदारता, प्रभु की कृपालुता, और सन्तों की सद्भावना रहती ही है। तो आप उस सत्य को जो नजदीक है उसको लम्बा क्यों कर रहे हो ?

इसलिए, देखो भाई, स्वाधीन होना चाहते हो कि नहीं। अब शरीर को बनाये रखने का संकल्प रख कर कोई स्वाधीन हो पायेगा क्या ? और यह चाहें कि वस्तु सुरक्षित रहे तो कोई स्वाधीन हो पायेगा ? बिना अचाह हुए स्वाधीन होने का कोई उपाय है ?

**श्रोता**—नहीं।

**स्वामी जी**—अच्छा आप अचाह न होना चाहें तो कोई अचाह कर देगा आपको ? यह बात ठीक है अगर, तो आपको मानना चाहिए कि बिना स्वाधीन हुए न हम उदार हो सकते हैं न हम प्रेमी हो सकते हैं। यह है दर्शन। अच्छा, विज्ञान क्या है कि शरीर की भांति सभी को अपना मानो तो आपमें उदार होने की क्षमता आजायगी। तो विज्ञान से चलो, चाहे दर्शन से चलो अथवा आस्था से चलो। हमारे प्रभु परम उदार हैं, इसलिये प्रभु के नाते सभी अपने हैं, तो उदारता आयेगी।

यह जो दार्शनिक दृष्टिकोण अलग-अलग हैं सभी के, यह तो गुरु परम्परा के हैं। किसी का गुरु कुछ बताएगा, किसी का गुरु कुछ बताएगा। लेकिन अपने द्वारा जब आप स्वाधीन होने की बात सोचेंगे तो स्वीकार करेंगे कि अब तक पराधीनता में फंस कर मैंने अनेक दुःख उठाये, अब मैं पराधीनता को पसंद नहीं करूंगा। मोह क्या है ?—पराधीनता। आसक्ति क्या है ?-पराधीनता। तो उस पराधीनता में फंस करके दुःख नहीं उठाया है क्या हमने ?

हम क्या बतायें, एक घटना सुनाते हैं आपको। हमारे सामने की बीती हुई घटना है। किला-घाट है फतहगढ़ में एक जगह गंगा किनारे। वहाँ एक 'मात-गंगे' नाम के साधु रहते हैं। वह मिलिट्री एरिया है। उन्होंने वहाँ एक पेड़ लगाया। गायों की सेवा करते थे, तो उनकी गायें ऐसी थीं कि हुकुम करें कि एक-एक खेत में से एक-एक ग्रास लो। अनेकों बार काश्तकारों ने पीटा। तो खद्दीपुर रियासत वाले राजा ने कहा कि तुम गायों को हमारे यहाँ छोड़ दो। फिर वहाँ आकर के बैठ गये और वैसे इतनी अच्छी स्थिति के आदमी थे। 'मात-गंगे' उनका नाम पड़ गया था, उनको 'गंगे-गंगे' कहा करते थे। भण्डारा एक बार किया तो कहा कि गंगा को न्योत आना। गंगा जी को निमन्त्रण दे दिया तो पानी की धारा आ गई वहाँ पास में। ऐसे साधु थे। गायें उनके हुकुम पर चलती थीं। जिसका भी नाम लेकर बुलायें वही आती थी। तो उन्होंने एक पेड़ लगा दिया वहाँ, सब छोड़-छाड़कर आखिर में। हवन करते रहते थे और अपना जप-तप करते रहते थे। जो कुछ भी उनकी साधना थी। तो हुआ क्या कि वह पेड़ मिलिट्री ने कटवा दिया। इतनी तकलीफ हुई उस

आदमी को, इतनी तकलीफ हुई कि उसके पास एक बंदरिया का बच्चा था पाला हुआ। उससे अपने शरीर को कटवाया छेड़-छेड़ कर खूब और अन्त में आग लगा कर मर गया वह साधु। उस पेड़ की आसक्ति का इतना गहरा दुःख हुआ कि वह बाबाजी बिचारा आग लगाकर मर गया, अपने शरीर में। हाँ ! तो मैं यह निवेदन कर रहा था कि आसक्ति हीरा--जवाहिरात में ही होती हो, सो नहीं। छोटी-छोटी चीजों में हो जाती है। वासना बड़ी-चीजों की हो ऐसा नहीं है। छोटी-छोटी चीजों की हो जाती है। इसलिए अगर आप अपनी दृष्टि में पराधीन हैं, मान लो कोई भाई, कोई साधक, चाहे वह रोटी के अधीन हो, चाहे लंगोटी के अधीन हो, चाहे वह एक गिलास पानी के अधीन हो, चाहे वह अपने शरीर के अधीन हो। अगर पराधीन है तो उसे सोचना चाहिए कि भाई जल्दी-से-जल्दी स्वाधीन हो जाओ। क्योंकि शरीर से तो स्वाधीन होंगे नहीं, स्वाधीन होंगे अपने ही द्वारा। **मेरा कुछ नहीं है, मुझे कुछ नहीं चाहिए,** तब स्वाधीन होंगे। बोले, मेरा कुछ नहीं है तो शरीर किसका है ? तो संसार का है। तो संसार की मर्जी पर उसे छोड़ दो। तुम किसके हो ? बोले, परमात्मा के हैं। तो अपने को परमात्मा की मर्जी पर छोड़ दो अगर इतना भी आप नहीं कर सकते तो स्वाधीनकैसे होंगे !

तो अपनी दृष्टि में हम कैसे हैं ? हमारा वर्तमान कैसा है ? हमारी मौजूदा वस्तुस्थिति कैसी है ? मौजूदा हालत कैसी है ? वर्तमान स्थिति कैसी है ? यह देखना चाहिये। अगर हम, किसी एक अंश में भी पराधीनता का अनुभव करते हैं, तो हमें विचार करना चाहिए भाई, प्राण-पखेरू का पता

नहीं कब उड़ जाएं पराधीनता को साथ लेकर मरना नहीं है। आदमी को अनुदार होकर मरना नहीं चाहिए, आदमी को पराधीन होकर मरना नहीं चाहिये, आदमी को आसक्ति में आबद्ध होकर मरना नहीं चाहिये। मरने से पहले जल्दी-से जल्दी हमारे जीवन में उदारता, स्वाधीनता और प्रेम आ जाय, तो इसका मतलब हैं कि अभी आ जाय ; क्योंकि मरने का कोई समय तो निश्चित है नहीं। जी ? अभी आ जाय। अभी हम उदार हो जाएं, अभी हम स्वाधीन हो जायं, अभी हम प्रेमी हो जाएं। तो इतनी सजगता के साथ जब हम अपनी दशा का अनुभव करेंगे, मनन करेंगे तो हमको सफलता अवश्य मिलेगी।

# प्रवचन सूत्र

१—(अ) ठहरी हुई बुद्धि में श्रुति का ज्ञान स्वतः अभिव्यक्त होता है। उसकी पाठशाला है "एकान्त" और पाठ है "मौन"।

(ब) जो धर्मात्मा है उसकी संसार आवश्यकता अनुभव करता है और उसे स्वयं संसार की आवश्यकता नहीं रहती।

जिसको उत्पन्न हुई चीज की आवश्यकता नहीं रहती उसे अनुत्पन्न हुआ जीवन मिल जाता है।

२—(अ) संसार के जितने कर्म हैं वे शरीर तक रहते हैं। "मैं" तक नहीं पहुँचते। "मैं" की खोज करने के लिये शरीर का आश्रय छोड़ना पड़ता है।

"मैं" को ढूँढ़ते ढूँढते "मैं" "है" में विलीन हो जाता है।

(ब) योग का पूर्व पक्ष कर्तव्य है और उत्तर पक्ष योग हैं। प्रेम का पूर्व पक्ष पूजा है। उत्तर पक्ष प्रेम है।

३—(अ) जो सदा के लिये नहीं है वह अपने लिये नहीं है, जो सदैव नहीं है सो अपना नहीं है और जो अपने में नहीं है सो अपना नहीं है।

(ब) काम आओ और कुछ न चाहो—यही जीवन का ध्रुव सत्य है।

जैसे भोग का परिणाम मोह और आसक्ति है वैसे योग का परिणाम बोध और प्रेम है।

४—(अ) जिसका अपना कोई संकल्प नहीं है वह प्रत्येक परिस्थिति में चिर शान्ति में वास करता हैं।

(ब) जिसके जीवन में सुखभोग का प्रलोभन नहीं रहता

उसका दृश्य से सम्बन्ध टूट जाता है। फिर उसकी दृष्टि अपने उद्गम में विलीन हो जाती है। तब वह अपने में सन्तुष्ट होकर एक अविनाशी जीवन से अभिन्न होता है।

५—(अ) अगर हम केवल परमात्मा को अपना मान लें और सब प्रकार से उसी के होकर रहें और उन्हीं के नाते सबके प्रति सद्भाव रक्खें तो यह निर्विवाद सत्य है कि हमारा उन्हीं में नित्य वास होगा।

(ब) जो बात ज्ञान के द्वारा सिद्ध है और विश्वास के द्वारा साध्य है उसके लिये अभ्यास की अपेक्षा नहीं है।

६—(अ) योग के बिना सामर्थ्य और शान्ति नहीं मिलती, बोध के बिना अमरत्व प्राप्त नहीं होता, प्रेम के बिना रसरूप जीवन की अभिव्यक्ति नहीं होती।

(ब) भलाई करके कोई भला नहीं होता, भला होकर केभलाईकरता है, यह एक वैज्ञानिक तथ्य है।

# शुद्धि-पत्र

| पृष्ठ | पंक्ति | अशुद्ध | शुद्ध |
|---|---|---|---|
| अनु० | | अ–1 ब | 1 अ-ब |
| भूमिका | २ | प्रेंमी | प्रेमी |
| ,, | ४ | वानये | बनाये |
| १ | ७ | आविभाव | आविर्भाव |
| १ | ६ | वृह्मालीन | वृह्मलीन |
| ३ | २३ | महारा जी | महाराज जी |
| ४ | ११ | कि भाई,"मसीहा | कि "भाई, मसीहा |
| ,, | १३ | जनता | जानता |
| १० | ४ | में | मैं |
| ११ | १० | अथात् | अर्थात् |
| १४ | ८ | हे | है |
| १६ | ५ | हाती | होती |
| २७ | ८ | परामात्मा | परमात्मा |
| ,, | १० | कोइ | कोई |
| ३२ | ५ | मन | मत |
| ३४ | ३ | सबन्ध | सम्बन्ध |
| ,, | ७ | विया | दिया |
| ३६ | ४ | लकिन | लेकिन |
| ४१ | १४ | शरार | शरीर |
| ४४ | २१ | करगे | करेंगे |
| ४६ | २६ | हे | है |
| ५० | १ | प्रम | प्रेम |
| ५१ | ५ | अरे जगत ! | अरे ! जगत |
| ५१ | १५ | बह्मवित् | ब्रह्मवित् |
| ५३ | ६ | अस्तिव | अस्तित्व |
| ५४ | १ | मिल | मिले |
| ,, | ३ | मकता | सकता |
| ५५ | १४ | भ्रमवश | भ्रमवश |
| ५६ | २१ | में। भी | में भी। |
| ५७ | ५ | अथात् | अर्थात् |
| ६० | ५ | अज्ञातशत्रु | अजात शत्रु |
| ७५ | २३ | जांय | जायं |
| ७७ | ३ | में | मैं |

| पृष्ठ | पंक्ति | अशुद्ध | शुद्ध |
|---|---|---|---|
| ७८ | १२ | केसे | कैसे |
| ८० | २२ | हा | हो |
| ८४ | १५ | बुरां | बुरा |
| ९० | २५ | ज— — | जगेगी |
| ९३ | ७ | नहीं, है | नहीं है, |
| १०३ | २५ | योम | योग |
| १०६ | १८ | मूल-जनित | भूल-जनित |
| ११५ | १३ | अणर | अपार |
| ११८ | १२ | मानिएगा, 1 | मानियेगा, |
| १२९ | ३ | चाहिये। करना | करना चाहिये। |
| १३१ | ३ | प्राष्ति | प्राप्ति |
| १३१ | १५ | प्राष्त | प्राप्त (दो बार) |
| १३३ | १७ | अभिष्ट | अभीष्ट |
| १३४ | ५ | ाहीं | नहीं |
| ,, | ६ | भाग | भोग |
| १३९ | १ | अभिव्भक्ति | अभिव्यक्ति |
| ,, | ६ | रखतो | रखती |
| १४२ | २ | गत | मत |
| १४३ | २० | कोइ | कोई |
| १४४ | २ | होत | होता |
| ,, | ३ | लगे | लगे। |
| १४५ | ८ | कोइ | कोई |
| १४६ | १९ | मिला | मिल |
| ,, | २१ | मिला | मिल |
| १४७ | १८ | होतो | होती |
| १४८ | ५ | नें | में |
| १५० | ४ | मुख | सुख |
| ,, | ६ | जसे | जैसे |
| १५३ | १० | हांगे | होंगे |
| १६३ | ११ | कयों | क्यों |
| १६४ | १० | मैं | में |
| १६६ | २ | मरा | मरना |
| ,, | ३ | आराक्ति | आसक्ति |
| १६७ | १८ | वसे | वैसे |

मार्च; ६३—४०००

मूल्य—७·००